श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

चारित्रपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता —
अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त-न्याय-साहित्यशास्त्री
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
'श्रीमत्सहजानन्द' महाराज

प्रकाशक —
खेमचन्द जैन सर्राफ,
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण १०००
सन् १९७८

लागत बिना जिल्द २)५० रु०
जिल्द का पृथक् ५० पै०

भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मंदिरके संरक्षक

(१) श्रीमती राजो देवी जैन ध० प० स्व० श्री जुगमन्दरदासजी जैन आढ़ती, सरधना
(२) श्रीमती फूलादेवी जैन ध० प० श्री ओमप्रकाश जी दिनेश वस्त्र फैक्टरी, सरधना

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके सरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(२) श्रीमती फूलमाला देवी, ध० प० ला० महावीरप्रसादजी जैन बैंकर्स, सदर मेरठ
(३) श्रीमान् ला० लालचन्द विजयकुमार सर्राफ, सहारनपुर
(४) श्रीमती शशिकान्ता जैन ध० प० श्री धनपालसिंह जी सर्राफ, सोनीपत
(५) श्रीमती सुवटी देवी जैन सरावगी गिरीडीह
(६) श्रीमती जमना देवी जैन ध० प० श्री भवरीलाल जैन पाण्ड्या, झूमरीतिलैया

नवीन स्वीकृत सरक्षक

(७) श्रीमती रहती देवी जैन ध० प० श्री विमलप्रसादजी जैन, मंसूरपुर
(८) श्रीमती श्रीमती जैन ध० प० श्रीनेमिचंदजी जैन, मुजफ्फरनगर
(९) श्रीमान् शिखरचंद जियालाल जी एडवोकेट, ,,
(१०) श्रीमान् चिरंजीलाल फूलचंद बैजनाथजी जैन बड़जात्या नई मंडी, ,,
(११) श्रीमती पूना बाई ध० प० स्व० श्री दीपचन्द जी जैन गोटेगांव

सहजानन्द-साहित्य-उद्घोष

वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः स्याद्वाद द्वारा समस्त विवाद विरोध समाप्त कर वस्तुका पूर्ण परिचय कीजिए और आत्मकल्याणके अनुरूप नयोको गौण मुख्य करके अभेदपद्धतिके मार्गसे आत्मलाभ लीजिए।

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, स्वामी जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॐ··· ॥ टेक ॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ····

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ····

परसम्बध बध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्म का दर्शन, चहु गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ···

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन सचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ····

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शातिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ···

नोट—यह आरती निम्नाकित अवसरोपर पढी जाती है—

१– मन्दिर आदिमे आरती करनेके समय ।
२– पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्योंमे ।
३– किसी भी समय भक्ति-उमगमे टेकका व किसी छदका पाठ ।
४– सभाओमे बोलकर या बुलवाकर मगलाचरण करना ।
५– यात्रा वदनामे प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना ।

卐卐卐 卐
卐 卐
卐卐卐卐卐
卐 卐
卐 卐卐卐
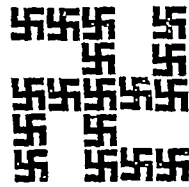
सम्पादकीय

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ परम पूज्य गुरुदेव श्री मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज' का वर्तमान युगमे आध्यात्मिक जगतमे एक विशिष्ट स्थान है। कठिनसे कठिन विषयो पर उनके प्रवचन सरल व सुबोध भाषामे अब तक अनेको बार प्रकाशित हो चुके हैं। यह प्रवचन भी उसी शृ खलाकी एक कडी है।

चारित्रपाहुड प्राकृत भाषाका एक कठिन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमे जैसा कि नामसे ही ज्ञात होता है चारित्रका गाथाओके रूपमे वर्णन है। 'सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक अपने स्वरूपको निरखने वाला तथा अपनेको मात्र ज्ञान अनुभवने वाला निश्चित रूपसे अनत आनद के धाम मोक्षको प्राप्त करता है' यह वाक्य इस प्रवचनका कितना सुन्दर तथा हृदयगमकारी कथन है। स्वरूपाचरण चरित्र तथा सकल सयम चारित्रमे क्या अन्तर है ? सागार व निरागार संयम चारित्र क्या है ? इस सभीका वर्णन इस ग्रन्थमे भली-भांति सरल सुबोध शैलीमे किया गया है।

प्रत्येक पैरेग्राफके प्रारभमे शीर्षक दिया गया है ताकि पैरेग्राफकी विषय सामग्री भली भांति समझमे आ जाये। इससे इस ग्रथकी उपयोगिता और बढ गई है। मैंने इस ग्रन्थका प्रूफ रीडिंग किया है। अल्पज्ञ होनेके कारण कुछ त्रुटियाँ रह सकती है। अत आप अपनी प्रतिमें सुधारकर मुझे सूचित करनेका कष्ट करें।

यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। इस ग्रथका अध्ययन करने वाला निश्चयत सर्व झझटोसे सदाके लिए छूट जावेगा ऐसा मुझे विश्वास है। आशा है आपको इस ग्रन्थका अध्ययन अपने सहज चित्स्वरूपके अनुभवमे सहायक होगा।

—पवन कुमार जैन

चारित्रपाहुड प्रवचन

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज

सव्वण्हू सव्वदसी गिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी ।
बदित्तु तिजगवदा अरहता भव्वजीवेहिं ॥ १ ॥
णाण दसण सम्म चारित्त सोहिकारण तेंसि ।
मुक्खाराहणहेउ चारित्त पाहुड वोच्छे ॥ २ ॥ युग्मम् ।

(१) चारित्रपाहुड ग्रन्थके मगलाचरणमे सर्वज्ञ अरहंतदेवको देवको वन्दन—यह चारित्रपाहुड नामका ग्रन्थ है, इसमे चारित्रकी विधियाँ बतायी जायेंगी । इस चारित्रपाहुड ग्रन्थसे पहले मंगलाचरण किया है कि अरहंत परमेष्ठीको बदना करके चारित्रपाहुड कहेगे । ये अरहत सर्वज्ञ हैं । तीन लोक तीन कालके समस्त पदार्थोंके जाननहार हैं । चारित्रपाहुड जो कहा जायगा सो सर्वज्ञ देवकी वाणीकी परम्परासे आया हुआ ही कहा जायगा । इस बातका सकेत देनेके लिए अरहंतकी वंदनामे सर्वप्रथम सर्वज्ञ शब्द कहा है, क्योकि वाणी उसीकी ही प्रामाणिक होती है जो सर्वज्ञ और वीतराग हो । यहाँ वीतराग विशेषण शब्द प्रथम कहा गया । ये दोनो ही मुख्य बनकर यह बात बतला रहे हैं कि जो वीतराग हो, सर्वज्ञ हो उसकी वाणी ही निर्दोष है और उस वाणीकी परम्परासे चला आया व्याख्यान निर्दोष है । वह चारित्र पाहुड ग्रन्थ ऐसा ही निर्दोष विषय है । जो समस्त पदार्थोंको जाने उसे सर्वज्ञ कहते हैं । सर्वज्ञ और वीतराग इन दो मे पहले वीतराग बनता है और बादमे सर्वज्ञ होता है । वीतराग हुए बिना सर्वज्ञ कोई नही हो सकता । राग रखते हुए एक-एक पदार्थको क्रमसे जान जानकर सब पदार्थोंको कोई जान ले ऐसा कभी सभव नही है, किन्तु सर्व राग छोडकर केवल एक अविकार सहज चैतन्य स्वरूपका ही ध्यान रखे तो पहले वीतरागता प्रकट होती है और पश्चात् सर्वज्ञता होती है । यद्यपि वीतराग १२ वें गुणस्थानमे हो जाता, ११ वें गुणस्थानमे भी हो

जाता है, पर असत्य वचनयोग १२ वें गुणस्थान तक बताया है, सत्य वचनयोग भी है, असत्य वचन योग भी है, तो यद्यपि यह असत्य वचन रागकृत नही किन्तु अल्पज्ञानाके कारण यह असत्य योग रहता है। तो सर्वज्ञ हुए बिना उसकी वाणी प्रामाणिक नही और जो कुछ ग्रन्थमे कहा जाय वह सर्वज्ञकी वाणीका परम्पराका हो तो वह निर्दोष होता है।

(२) सर्वज्ञताके लाभका साधन अविकार सर्वज्ञतास्वभावका आश्रय—सर्वज्ञता केवल आत्मज्ञ बननेसे होगी। सर्व पदार्थोंको जाननेका विकल्प रखकर सर्वज्ञता नही बन सकती। आत्माका स्वरूप सर्वज्ञताका ही है। इस आत्माका स्वभाव है प्रतिभास करना। किसका प्रतिभास? जो सत् है उसका प्रतिभास होना। चाहे वह सामने हो, चाहे पीठ पीछे हो या नीचे ऊपर हो, कही भी पदार्थ हो, जो पदार्थ है वह ज्ञानका विषय बनता है। तो इस समय चूँकि रागद्वेषके सस्कारमे चला आया है, ज्ञानावरण कर्मका विपाक चला आया है तो यह ज्ञानस्वभाव कुछ तिरोहित हो गया। साधारण ज्ञान हो पाता है, पर जिस काल रागद्वेषका सस्कार मिट जायगा। ज्ञानावरण कर्मका सत्त्व समाप्त हो जायगा तो निरावरण होनेसे यही ज्ञान पूर्ण सर्वज्ञ हो जायगा। अरहत परमेष्ठी सर्वज्ञ है। इस मगलाचरणमे अरहत परमेष्ठी का क्यो स्मरण किया है? इस कारण स्मरण किया कि उनका स्मरण कराकर श्रोताओको यहाँ विश्वास बनता है कि यह अरहत परमेष्ठीके वचनोमे से कहा जा रहा है, और यह चारित्रपाहुड प्रामाणिक ग्रन्थ है। दूसरी बात जिसकी कृपासे, उपकारसे उपकृत होकर ये आचार्य कुन्दकुन्ददेव ऐसे ज्ञानका वैभव पा रहे है वह उपकारी प्रभुका विस्मरण कैसे कर सकेगा? तीसरी बात यह है कि भला कार्य करनेके लिए किसी भलेका स्मरण किया जाय तो उस कार्यमे निर्विघ्नता रहती है। आत्मामे बल बढता है। इन सब बातोसे यहाँ अरहत देवको नमस्कार किया गया है। ये प्रभु सर्वज्ञ हैं अर्थात् लोकके समस्त पदार्थोंके जाननहार हैं। जानन किसे कहते हैं? जिस जाननका यहाँ जिक्र किया जा रहा है वह जानन यहाँ ससारी जीवोमे नही पाया जा रहा है। यद्यपि जानन बिना कोई जीव है नही और जो कुछ भी विचार विकल्प बन रहे हैं वे सब ज्ञानमे ही लद गए हैं। जानन न हो तो राग द्वेष भी कहाँसे बने? लेकिन विचार विकल्प वाला जानन शुद्ध जानन नही है। शुद्ध जाननमे किसी पदार्थ विषयक विकल्प नही रहता। न उसके प्रति रागद्वेष रहता। वह कहलाता है शुद्ध जानन। तो जब आत्माकी स्थिति शुद्ध जाननकी होती है तो वहाँ सर्वज्ञता प्रकट होती है। तो ये अरहत प्रभु सर्वज्ञ हैं।

(३) सर्वदर्शी अरहतदेवको वदन—अरहत भगवान सर्वदर्शी हैं, सबको देखने वाले हैं। यहाँ देखनेका मतलब आँखोसे देखना नही है, किन्तु सर्व पदार्थोंका सामान्य प्रति-

भास करने वाला। अब सर्व पदार्थोंका सामान्य प्रतिभास किस विधिसे होता है इस पर विचार करना ? यदि पदार्थोंकी ओर ही आकर्षित होकर इन पदार्थोंको ही देखकर निहार कर इनके बारेमे प्रतिभास करे कोई तो वह प्रतिभास तो विशेष हो जायगा सामान्य न रहेगा। तो सर्व पदार्थोंका सामान्य प्रतिभास किस ढगसे होता है प्रभुमे। वह प्रभुने समस्त पदार्थोंको जाना और सर्व पदार्थोंके जाननहार अपने आत्माका प्रतिभास किया तो उस प्रतिभासमें सारे पदार्थोंका प्रतिभास आ गया। जैसे कोई दर्पणमें ही निहारकर सर्व चीजोंका प्रतिभास कर लेता है कि इतने लडके खडे, भीत पर ये चीजें टगी, एक तो यह ढग है सब चीजोंका प्रतिभास होनेका और एक यह ढग है कि मुडकर देख लिया कि कौन कौन लोग बैठे है और कौन कौन खडे है, तथा भीत पर क्या क्या चीजें टगीं हैं। तो जैसे उन्ही चीजो का प्रतिभास करने के दो ढग है कि सीधे उन्ही चीजोका प्रतिभास कर लिया या दर्पणको ही निरख ले जिसमें कि सब चीजोंका फोटो आया है तो ईस तरहसे यहाँ भी समझिये प्रति भास करनेकी दो विधियां है। एक तो समस्त पदार्थोंका सीधा ही प्रतिभास करे और एक समस्त पदार्थ जिस आत्मामे प्रतिभासित हो रहे है ऐसे प्रतिभासित हो रहे इस धामको प्रति भासित करले, एक यों सबका प्रतिभास है। तो सबके जाननहार आत्माका प्रतिभास करना यह तो हुआ दर्शन और सीधा ज्ञानके विषयमें जानने हो रहा, यह हुआ ज्ञान। ऐसा ज्ञान दर्शन युगपत हो रहा सो केवल प्रभुके ही होता है। छद्मस्थोंके दर्शनकी विधि कुछ और बन जाती है। बिल्कुल अलग नही बनती किन्तु निकटता लिए हुए है। जैसे भिन्न-भिन्न पदार्थोंका ज्ञान किया जा रहा तो ज्ञानसे तुरन्त पहले उस ज्ञानके लिए उद्यम रूप जो प्रतिभास है वह दर्शन होता है। तो ये प्रभु सर्वदर्शी हैं।

(४) **निर्मोह प्रभुको वंदन**—प्रभुको नमस्कार करके चारित्रपाहुड ग्रन्थ कहा जा रहा, उन अरहत प्रभुकी विशेषता बतला रहे। ये प्रभु निर्मोह हैं, इनके दर्शन मोह नही है। दर्शन मोह तो बहुत ही पहले नष्ट हो गया था। क्षायिक सम्यक्त्व होते समय ही दर्शन मोह नष्ट था। उसके बाद चारित्रमोहका विनाश हुआ। सर्व मोहसे रहित हुए, पर निर्मोह शब्द कहनेसे उस दर्शनमोहसे रहितपनेकी याद दिलायी गई है प्रभु निर्मोह है, प्रभु वीतराग हैं, चारित्रमोहसे अलग है। यह बात चौथे विशेषणमें कही जायगी। तो जब रागरहितपने की बात अलग विशेषणमे कही गई है तो निर्मोह शब्दसे यह बात विशेषतया लेना कि वह दर्शनमोहसे रहित है। दर्शनमोह मायने सम्यग्दर्शन न होने दे, ऐसी बेसुधी रखना, बेहोशी का नाम है मोह। राग और मोहमे यही तो अन्तर है। प्रीति करनेका नाम है राग और बेहोश हो जानेका नाम है मोह। मोहमे भी राग चलता है, पर अपने आपकी ओरसे बेहोश

होकर राग चलता है तो वहाँ मोह और राग दोनो ही एक साथ बन रहे हैं। मोहका अर्थ है बेहोशी। दर्शनमोह—अरहतदेव दर्शनमोहसे रहित हैं। जिसके दर्शनमोह है आत्माकी सुध नही है वह पुरुष राजा भी हो, धनिक भी हो तो भी गरीब है, आकुलतावान है। ससारमे रुलने वाला, दरिद्र है। धनी या राजाको देखकर जो ईर्ष्या रखता कि ऐसा मैं क्यो न हुआ यह क्यो आगे बढ गया, वह ईर्ष्या रखने वाला भी गरीब है। जो दूसरेकी दरिद्रताको नही पहिचान सकता और उस ही दरिद्रतामे जो कुछ ऊपरी तडक भडक है उस पर आकर्षित हो गया तो वह ईर्ष्या करने वाला भी गरीब है। क्यो नही अपने आपके अनन्त वैभवको निरखा जा रहा? ये बाहरी वैभव क्या इस जीवके साथ जायेंगे जो उनकी ओर इतना अधिक आकर्षित होते हैं। जो अपने स्वरूपमे तृप्त नही हो सकता वह क्या बाहरी चीजोके समागमसे तृप्त हो जायगा? कभी भी सभव नही, लेकिन यह मोही जीव ऐसी ही बेसुधी रखता है कि इसको अपने आत्मीय अनन्त वैभवकी तो सुध नही रहती और बाह्य तडक-भडककी ओर यह आकर्षण कराता है। प्रभु इस मोहसे कभीके ही दूर हो गए थे। प्रभु निर्मोह हैं।

(५) वीतराग प्रभुको वन्दन—अरहतदेव वीतराग हैं। वीतरागपना अरहत होनेसे अन्तर्मुहूर्त पहले हो जाता है, और उस वीतरागताके ही तपश्चरणका यह प्रभाव है कि ज्ञानावरणादिक ये सब आवरण एकदम विलयको प्राप्त हो जाते हैं। और ये सर्वज्ञ हो जाते हैं, अरहत हो जाते हैं। तो अरहत प्रभु वीतराग हैं, रागद्वेषसे रहित हैं। वीतरागता १०वें गुणस्थानके अन्तमे आयी या यह कहो कि ११वें १२वें के आदिमे आयी। १०वें गुणस्थान तक राग है, उसके अन्तमे राग नही। १०वें गुणस्थानका अन्त, ११वें या १२वें गुणस्थान का आदि समय, यह एक ही बात है। जैसे कोई किसी अपने मित्रको पासको नहर तक पहुचाने गया, उससे पूछा जाय कि बताओ तुम्हारा उस मित्रसे वियोग कहाँ हुआ? तो वह कहता है कि नहरपर हुआ। अरे नहरपर वियोग कैसे हुआ, वहाँपर तो एक साथ थे। तो भाई जहाँ एक साथ थे वहीका वियोग कहा पर सयोगका जो आखिरी समय है उसमे वियोग का उपचार किया है। वास्तविक वियोग तो उसके आगे है। तो रागका वियोग, रागका अभाव ११वें और १२वें गुणस्थानके आदिमे है। ये प्रभु वीतराग हैं। वीतरागता होना एक बहुत प्रमाणिकताका प्रमाण है और वीतरागताके ही कारण सर्वज्ञता होती तब वह पूर्ण प्रमाणरूप है।

(६) त्रिजगदन्द्य अरहंत परमेष्ठीको वन्दन—अरहत परमेष्ठी तीनो जगतके द्वारा वंदनीय हैं। ये भव्य जीवोके द्वारा पूज्य हैं। प्रभु तीनो लोकके द्वारा वदनीक कैसे? तो

अधोलोकमे सप्तम नरकके नारकी भी सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं। जो सम्यग्दृष्टि होते हैं उनके भावोमे पूर्ण आत्मविकास वाञ्छनीय है। प्रभु भी पूर्ण आत्मविकास है। लो सप्तम नरकके नारकीके द्वारा भी यह आत्मविकास वन्दनीय हुआ। ऊर्द्धलोकमे सर्वोपरि सिद्धके द्वारा सम्यग्दृष्टि ही होते। अनुत्तर विमानवासी और अनुदिश विमानवासी सर्व अहमिन्द्र सम्यग्दृष्टि ही होते। उसके नीचे भी अनेक सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि पूर्ण आत्मविकासका आदर करते है, तो उनके द्वारा भी वंदनीय हुए। मध्य लोकके मनुष्य सम्यग्दृष्टि ज्ञानी तो परमात्माकी वदना करते ही है। अब सम्मुख वदनाकी बात देखिये। तो अरहत भगवान वीतराग हैं और इसी कारण वे सर्वज्ञ हुए और इस ही कारण वे मोक्ष भी पधारे। उनको तीनो जगतके देव सन्मुख वदना करते है। भवनवासी और व्यतर जातिके देव अधोलोकमे रहते हैं। इस पहली पृथ्वी के नीचे तीन हिस्से है, जिनमे ऊपरके दो हिस्सोंमे भवनवासी और व्यतर रहते है। यह मध्य लोकसे नीचे है। मध्यलोक तो मेरू पर्वतकी जड तक माना गया। इसके नीचे अधोलोक है। वहांसे देव और इन्द्र मध्य लोकमे अरहत प्रभुकी वदना करते है। तो जहाँ अधोलोकके इन्द्रोने, राजाओने, सन्मुख आकर वंदना की तो यह समझ लीजिए कि अधोलोकके सब जीवोके द्वारा वदना हो गई। राजा जिसको अपना समर्पण कर दे तो वह प्रजाका भी समर्पण कहा जाता है। मध्य लोकके जीव तो साक्षात् वदनाका लाभ लेते ही हैं, ऊर्द्ध लोकके भी देवेन्द्र आकर यहां अरहतकी वदना करते हैं तो यो तीनो जगतके द्वारा अरहत प्रभु वदनीक है। इसमे ५वां विशेषण दिया है—परमेष्ठी, जो परम पदमे स्थित हो, परम मायने उत्कृष्ट। सर्वोत्कृष्ट पद क्या है आत्माका? जैसा आत्माका सहज स्वरूप है वैसा ही प्रकट हो जाना यह है जीवका परम पद। ऐसे पदमे स्थित ये परमेष्ठी है जिनको कहा गया है कि ये तीनो जगतके द्वारा वदनीय हैं। परम पद तो एक ही होता है, मगर उस परम पदमे चलनेके लिए जो पौरुष कर रहे हैं और कुछ-कुछ सफल भी हुए है, ऐसे मुनियोको भी परम पदमे स्थित कहा जाता है, पर वस्तुतः परमेष्ठी तो अरहन और सिद्ध है. वे परम पदके ध्येयमे चल रहे हैं इसलिए अपूर्णमे पूर्णका उपचार करके उन्हे भी परमेष्ठी कहते हैं। पर ये तो साक्षात् परमेष्ठी हैं, आत्माके उत्कृष्ट विकासमे मौजूद है, ऐसे अरहंत प्रभुकी इसमे वदना की गई है।

(७) चार घातियाकर्मसे रहित अरहतदेवको वन्दन करके चारित्रपाहुडकी रचनाका प्रतिज्ञापन—अरहत मायने चार घातिया कर्मोंसे रहित, यह अर्थ अरहन्त शब्दसे भी निकल बैठता। अ मायने अरि, इन ८ कर्मोंमे प्रधान शत्रु कौन? मोहनीय और र मायने रज और रहस्य। रजे कहते हैं धूलको, आवरणको। तो रज मायने ज्ञानावरण और दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार कर्मोंसे रहित आत्माको कहते है अरहत। अरहंत शब्द बना है

अर्ह धातुसे, जिसका अर्थ है पूजा, तो जो उत्कृष्ट पूज्य हैं उन्हें कहते हैं अरहन्त। तो अरहंत प्रभुको वन्दन करके चारित्रपाहुड ग्रन्थ कहेंगे। जो चारित्रपाहुड ग्रन्थ कहा जायगा उसमे चारित्रकी विधि का, चारित्रकी विशेषता व्यवहार और अतरग चारित्रके स्वरूप इन सब बातो का वर्णन न होगा।

(८) चारित्रका मौलिक स्वरूप और चारित्रका प्रभाव—यहाँ संक्षेपमे यह जान लें कि चारित्रका मूल स्वरूप क्या है? आत्मामे दर्शन और ज्ञान ये दो गुण हैं और ये उपयोग वाले हैं, 'उपयोगो लक्षण' कहा ही है। ज्ञानका अर्थ है जानना। ज्ञप्ति, आत्माके अतरंगमे प्रदेशोमे जो वृत्ति जग रही है उस वृत्तिको निरखकर ज्ञानका स्वरूप समझना। उसमे बाह्य पदार्थ विषय होते है। मगर बाह्य पदार्थोका रिश्ता रखकर नही समझना, किन्तु आत्मामे क्या गुजरता है उस समय ऐसी दृष्टि रखकर समझना। ज्ञान है विशेष प्रतिभास और दर्शन है सामान्य प्रतिभास और चारित्र है ज्ञान और दर्शन। ये स्थिर हो जायें, यह है चारित्रका मूल स्वरूप। भट्ट अकलंक देवने 'स्वरूप सबोधन' मे बताया है कि यह स्थिरतासे ज्ञाता द्रष्टा रहें यह चारित्र कहलाता है। चारित्रका परिचय कराने वाला सुगम बाह्य रूप यह ही तो है कि विकल्प रागद्वेष न हो। रागद्वेषका अभाव करना चारित्र है। पर यह तो अभावरूपसे वर्णन हुआ। कोई भी चीज विधिरूप तो होती है। विधि हुए बिना अभाव क्या? अभाव मात्र कोई वस्तु नही। अगर रागद्वेषके अभावका ही नाम चारित्र है और वहाँ विधिरूप कुछ वृत्ति नही चारित्रकी, तो इस पुद्गलमे भी रागद्वेषका अभाव तो है ही। किसी आत्मामे राग-द्वेष है तो क्या यहाँ चारित्र कहलायगा? मुख्य तो विधि होती है। जिसको निरखा जाता है, तो विधिरूप चारित्र क्या है? ज्ञान और दर्शन गुण स्थिरतासे अपनी वृत्ति करे रहे, इस कला को चारित्र कहते हैं। सो यह चारित्रका परिपूर्ण रूप है किन्तु सामान्यतया यह समझना कि रत्नत्रय तीन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र। सो यह चारित्र इन तीनकी विशुद्धि का कारण है। चारित्रके होनेसे सम्यग्दर्शन भी निर्मल चलेगा, सम्यग्दर्शन हो गया पर उसमे और विशेषता चारित्रके कारण आती है। परिपूर्ण होकर भी कोई बात एक सही सम्हालकर रखना, उसमे कोई दोष न आ जाय, ये विशेषतायें चारित्रके प्रभावसे बनती हैं। चारित्रने सम्यक्त्वको नही बनाया मगर यह प्रभाव है, तब ही तो आत्मानुशासनमे सम्यक्त्वके दस भेदो मे अवगाढ परम अवगाढ भी सम्यग्दर्शनके प्रकार बताया है। ज्ञानमे निर्दोषता भी चारित्रसे होती और चारित्रका तो नाम ही है। तो इन सबकी निर्दोषताका कारण मुख्य आराधनाका हेतुभूत इस चारित्रपाहुड ग्रन्थमे अब कहा जायगा।

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।

णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्त ॥३॥

(९) ज्ञान, दर्शन व ज्ञान दर्शनके समायत्नसे हुए चारित्रका निर्देश—

जो जगता है सो ज्ञान है, और जो देखता है सो दर्शन है और ज्ञान एव दर्शनके समायोगसे चारित्र होता है। यहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनका वर्णन है। स्व पर वस्तुका विशेषरूपसे जो प्रतिभास करता है, उसे ज्ञान कहते है, और जो सामान्यतया प्रतिभास करता है उसको दर्शन कहते है। समग्र वस्तुओका सामान्य प्रतिभास क्या ? यदि इन वस्तुओका ख्याल रहे कि मैने इन चीजोका प्रतिभास किया तो वह सामान्य न रहा, विशेष हो गया और केवल आत्माके चैतन्यसामान्यका प्रतिभास किया तो वह सर्व वस्तुओका प्रतिभास नही कहलाया तो वह दर्शन क्या है जो सर्व पदार्थोका सामान्य प्रतिभास कहलाये और किसी भी वस्तुका बोध न हो। बोध हुआ तो ज्ञान बना। तो वह दर्शन है, समग्र वस्तुओके जाननहार आत्माका प्रतिभास और छद्मस्थोमे इस दर्शनका उपयोग होता है इस तरह कि अन्य वस्तुके जाननेके निकट ही होने वाला सामान्य प्रतिभास। तो इसे कहते है देखना। जानना और देखना ये दो बातें आत्मामे चलती रहती है, अब इन दोनोका समायोग है। अर्थात् जानना देखना एक साथ स्थिर हो जाय तो इसका नाम है चारित्र। चारित्र बाह्य क्रियाका नाम नही, किन्तु जब शरीरमे फसे हैं तो कुछ न कुछ तो शरीरकी क्रिया होगी ही। तो दर्शन ज्ञानके रुचियाको शारीरिक क्रियायें किस तरह होती है उसका वर्णन चरणानुयोगमे है और उन क्रियावोसे लाभ यह है कि अशुभोपयोग नही आ पाता। व्यवहारचारित्र अशुभोपयोगका निवारण करनेके लिए समर्थ है, पर आत्मानुभव मोक्षमार्ग गमन या कहो साक्षात् धर्मपालन शारीरिक क्रियावोसे नही होता, किन्तु अपनी ही रागवृत्ति से होता है तो यह ज्ञान और दर्शनके समायोगसे चारित्र हुआ है याने श्रद्धान और ज्ञान इन दोनोका एक रूप हो जानेसे चारित्र होता है। दर्शन शब्द दर्शन गुणके लिए भी आता है और श्रद्धानके लिए भी आता है। दर्शनका जो स्वरूप है वह जिसके दर्शनमे आ जाय, दर्शनके विषयभूत अतस्तत्वको जो हितरूपसे श्रद्धा कर ले उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। तो इस तरह चारित्रका प्रभाव सम्यग्दर्शनकी निर्दोषताके लिए है, सम्यग्ज्ञानकी निर्दोषताके लिए है और चारित्रकी निर्दोषताके लिए है और तीनोका एक रूप हो जाना यह साक्षात् मोक्ष मार्ग है।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥४॥

(१०) अक्षय अनंत दर्शन ज्ञान चारित्रके शोधनके लिये चारित्रका प्रयोग—सम्य-

ग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो ही भाव जीवके भाव है, अक्षय भाव हैं, अनत भाव हैं, जीवके ही स्वरूप हैं दर्शन, ज्ञान, चारित्र । स्वरूप तो जीवका एक है और वह क्या है ? उस एकको कैसे बताया जाय ? तो उसमे ही आचार्योंने भेद बनकर समझाया है कि जो श्रद्धा करे, ज्ञान करे, जो रमे वह जीव कहलाता है । बात जीवमे एक समयमे एक हो रही और वह क्या एक हो रही, उसको बतानेके लिए शब्द नही हैं । वह ज्ञानमे, अनुभवमे तो आ जायगा मगर किसीसे यह नही बताया जा सकता कि आत्मा कर क्या रहा है । एक भी बात नही बतायी जा सकती । हो रही एक क्रिया । एक जीवमे दो परिणतिया नही होती । एक समयमे एक परिणति चल रही परमार्थत, पर उसे समझायें कैसे ? तो उसके ही भेद करके समझाया जाता । किसी भी वस्तुको जो जैसा है पूरा उस एक रूपमे नही बताया जा सकता । इसीलिए व्यवहार आवश्यक है । वह परमार्थताका प्रतिपादक है, पर वस्तु परमार्थ स्वरूप है । व्यवहार भी गलत नही है, क्योकि परमार्थ स्वरूप तक पहुचाने वाला है । गलत रास्ता उत्कृष्ट स्थान तक नही पहुचा सकता, पर रास्ता तो रास्ता ही है और स्थान स्थान है, तो परमार्थका प्रतिपादक व्यवहार है और उस व्यवहारसे ही समझाया जाता कि जो श्रद्धा करे सो आत्मा, जो ज्ञान करे सो आत्मा और जो रमण करे सो आत्मा । ये तीन गुण सर्व जीवोमे पाये जाते है, पर जिसके मिथ्यात्व प्रकृतिका उदय है वह उल्टा श्रद्धान करता है, उल्टा ज्ञान करता है और बाह्य तत्त्वोमे रमता है और जिसके मिथ्यात्व प्रकृति नही रही, निर्मल आशय हो गया वह वस्तुका यथार्थ श्रद्धान करता है, यथार्थ ज्ञान करता है और अपने सही स्वरूपमे रमता है । तो तीन भाव सब जीवोमे पाये जाते, पर सम्यग्दर्शन होने पर इसकी क्रिया मोक्षमार्गमे चलाने वाली होती है । तो ये तीन प्रकारके भाव बताये गए, सो इन तीनकी शुद्धिके लिए जिनेन्द्रदेवने दो प्रकारका चारित्र कहा है ।

जिणणाणदिट्ठिसुद्ध पढम सम्मत्तचरणचारित्तं ।
विदिय सजमचरण जिणणाणसदेसिय त पि ॥५॥

(११) **सम्यक्त्वाचरण व संयमाचरणमे चारित्रका प्रकारत्व**—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान करके पवित्र चारित्र तो सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहलाता है । यह प्रथम चारित्र है और दूसरा चारित्र है सयमाचरण । वह भी जिनेन्द्र देवका बताया हुआ है । चारित्र दो प्रकारके हैं—एक सम्यक्त्वाचरण और एक सयमाचरण । सम्यक्त्वाचरण भी चारित्रका ही रूप है और सयमाचरण तो प्रकट चारित्र है ही । तो यो कह सकते कि है यह सब स्वरूपाचरण । कोई स्वरूपाचरण सम्यक्त्वाचरणरूप है, कोई स्वरूपाचरण सयमाचरण

रूप है। सम्यग्दर्शन होनेपर जो भी आत्माकी ओर झुकाव है वह भी चारित्रका रूप है, और वह चारित्र सम्यक्त्वाचरण मात्र है, इससे अधिक नही है इस कारण वह सयमाचरण नही कहलाता। सम्यक्त्वाचरणमे सम्यक्त्वकी प्रकृत्ति है। सर्वज्ञके आगममे तत्त्वका स्वरूप बताया है; उसे सही जानकर श्रद्धान करना, उसकी शका आदिक दोषोका टालना, अपने आत्मतत्त्व को शुद्ध करना, निशकता आदिक गुण प्रकट हो जायें, ऐसी पवित्रता आना यह सब सम्यक्त्वा चरण चारित्र है और सयमाचरण चारित्र महाव्रत आदिक अगीकार करना, संयमका आचरण करना जैसा कि आगममे कहा है, जो सम्यक्त्वाचरणसे और ऊँचा आचरण है याने सम्यक्त्वा चरण तो है ही, पर उसके साथ और ऊँचा आचरण है और सयमाचरणसे नीचा है तो वह सयम सयमाचरण कहलाता है, वह तो अपने आप समझ लेना चाहिए। यहाँ दो भेद बताये गए है— (१) सम्यक्त्वाचरण और (२) संयमाचरण। सम्यक्त्वाचरणमे जीवकी कैसी वृत्ति होती है उसका अब वर्णन करते हैं।

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ।
परिहरि सम्मत्तमला जिणमणिया तिविहजोएण ॥ ६ ॥

(१२) **सम्यक्त्वाचरण और उसके आविर्भाव तिरोभावकी रीति**—मिथ्यात्वप्रकृति का उदय न रहनेपर अथवा ७ प्रकृतियोका उपशम, क्षय, क्षयोपशम होनेपर जो जीवके आत्माभिमुख श्रद्धारूप वृत्ति होती है वह सम्यक्त्वाचरण है। सम्यक्त्वका घात करने वाली ७ प्रकृतियाँ हैं—सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ इन ७ प्रकृतियोका उपशम होनेपर औपशमिक सम्यक्त्वाचरण होता है। क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्वाचरण होता है और क्षय होनपर क्षायिक सम्यक्त्वाचरण होता है। लोकमे पदार्थोंमे परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है और उसी रीतिसे इन ७ प्रकृतियोका उदय होनेपर मिथ्यात्वादिक भाव होते हैं। पर स्वरूपमे सभी पदार्थ अपनी ही वृत्तिसे परिणम रहे हैं। नैमित्तिक भाव होनेपर कही यह बात नही है कि निमित्तने परिणति कर दिया, किन्तु निमित्तके सामने होनेपर उपादान खुद अनुरूप परिणम जाता है। जैसे कभी कोई बालक कही किसीसे पिट गया हो, दुःखी हो और रोते–रोते उसको २० मिनट हो गए, कहाँ तक रोवेगा ? आखिर वह एक जगह चुपकेसे बैठ गया, इतनेमे उसका पिता आया और वह लडका अपने पिताको देखकर उसी तरह फिर रोने लगा। तो बताओ क्या उसके पिताने उसे रुला दिया ? अरे पिताने नही रुलाया, किन्तु पिताको सामने देखकर वह लडका खुद अपनी कल्पना करके रोने लगा। यह तो एक साधारण सिद्धान्तकी बात कही। यहाँ कुछ अविनाभावका सम्बध नही कि पिताके दिखनेपर रोये ही रोये, पर कर्मोदय और जीवमे विकारभाव

इनमें निमित्तनैमित्तिक योग है कि कर्मोदय होनेपर जीवके विकार होंगे ही, सिर्फ जघन्य दशा वाली स्थितिमे तो विकार नही हो पाता, मगर कर्मोदय होनेपर जीवमे विकार होगा। अब ये आश्रयभूत कारण जुट जायें यानि बाह्य वस्तुमे उपयोग लग जाय तो वह विकार व्यक्त हो जाता है। यदि आश्रयभूत कारण न बनाया जाय तो विकार अव्यक्त रहता है, पर होगा अवश्य विकार। इसी कारण तो चरणानुयोगमे आश्रयभूत पदार्थोंका त्याग कराया जाता है। कुटुम्ब और जलके सम्बधमें जीवने रागी नहीं बनाया, जो रागी बना उसमे निमित्त तो राग प्रकृतिका उदय है, पर धन वैभवमे उपयोग देकर इस जीवने रागको व्यक्त किया। तो चरणानुयोगकी यह पद्धति है कि आश्रयभूत पदार्थोंका त्याग कर दिया तो व्यक्त विकार नही होनेके। कभी अवसर आयगा और ज्ञानबलसे फिर अव्यक्त विकार भी दूर करेंगे। तो कर्मोदयका विकारके साथ निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है।

(१३) कर्मविपाकोके त्यागकी विधि—अब उन कर्मविपाकोको कैसे छोडा जायें? उसका उपाय यह है कि जब कभी भी अवसर आये, सज्ञी हो जाय, मन मिले, सत्कुल मिल, सत्सगति हो, कुछ ज्ञान भी चलने लगे तो ज्ञानबल बढ़ायें और उसे ज्ञानजलमे अपने आत्मस्वरूपको सीचे। ज्ञानमे आत्मस्वरूप बहुत-बहुत ज्ञेय होता रहे और उस अविकार आत्मस्वरूपकी भावना बनती रहे तो सत्तामें पडे हुए कर्मोंमे भग हो जाता है। उनका अनुभाग क्षीण हो, प्रकृति भी बदल जाय, ये सब बातें हो सकती हैं, और जहाँ ये उथल-पुथल हो होकर ये कर्म दूर हो जाते हैं वहाँ फिर आत्माके ये शुद्ध भाव प्रकट हो जाते हैं। तो कल्याणके वास्ते बुद्धिपूर्वक अपनको करना क्या चाहिए? करना वह चाहिए जिससे आत्माके सहज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि बनी रहे। अब जिस तरह बने उस तरहका उद्यम करें। और चूकि यह जीव स्वरूपके ध्यानका अभ्यासी नहीं है जो एक तरहका बाहरी उपाय बनाकर यह जीव ऊब जाता है, इस कारणसे बाहरमें उपाय भी अनेक करने होते हैं, जैसे पूजाकी, सामायिककी, गुरुसेवाकी, शास्त्र श्रवण किया, कभी खुद अध्ययन किया, कभी मनन किया, अनेक उपाय बनाये जाते हैं उस ज्ञानदृष्टिको ही कायम रखनेके लिए। तो जो ज्ञानदृष्टिका भीतर निर्माण चल रहा वह तो है साक्षात् धर्मपालन और जैसे उपाय बाहरी क्रियामे चल रहे है वे कहलाते है व्यवहारधर्म।

(१४) सम्यक्त्वाचरणमे निःशंकता—सम्यक्त्वाचरणचारित्र शका आदिक दोषोको त्यागनेसे शुद्ध होता है। जिनेन्द्रवचनोंमे शका न रखना, विषय भोगोकी वाञ्छा न रखना, मुनिजनोंको देखकर, उनके मलिन शरीरको निरखकर ग्लानि न करना आदिक जो भी वृत्तियाँ हैं ये आत्माकी ओर ले जाने वाली तो है, ये चारित्र कहलाती हैं। श्रद्धानकी ओरसे देखा-तो

सम्यक्त्व है और उसमें वृत्ति क्या बन रही है ? उसकी ओरसे देखो, तो वह आचरण है, क्योंकि यदि शका आदि दोषोका त्याग न बने तो अपने आत्माका आचरण नही हो सकता। जिनेन्द्र देवने जो वस्तुका स्वरूप कहा उसमे जो-जो अनुभव गम्य चीजें है वे इस ज्ञानीके अनुभवमे उतरी हैं और उससे जिनेन्द्रवचनमे उसको दृढ श्रद्धा हुई है और ऐसी दृढ श्रद्धा हुई है कि जो कुछ परोक्षभूत बातोका वर्णन है, स्वर्ग, नरक, विमानोकी सख्या, विमानोका क्षेत्र फल, दुनियाकी जगहोका वर्णन जो-जो भी वर्णन आया है उसपर ज्ञानीको पूर्ण श्रद्धा हुई है, क्योंकि अनुभव गम्य तत्त्वमे ऐसी दृढ श्रद्धा हुई कि इसके बताने वाले जिनेन्द्र देव पूर्ण सत्य हैं, पूर्ण प्रामाणिक हैं, उनमे किसी तरहकी शका ही नही है। अतएव जिनागममे जो कुछ कहा गया है वह सब निर्दोष कथन है, उसमे सशय नही है, ऐसी शकाकी निवृत्ति है।

(१५) सम्यक्त्वाचरणमे निःकाक्षता—सम्यक्त्वाचरणमे भोग, भोगनेकी अभिलाषा सम्यग्दृष्टिके नही रहती। यद्यपि चारित्रमोहके उदयसे ज्ञानी भी किसी पदवीमे भोगोमे लगता है, पर उसका भीतरी भाव आन्तरिक आशय नही लगता। यह भी एक आश्चर्यकी बात है कि भोग भोगना भी पड रहा और भीतरमे पछतावा भी कर रहा। इन दो धाराओका सगम इस ज्ञानीके चल रहा है। विरक्ति भी चल रही है और प्रवृत्ति भी चल रही है। जैसे किसीको मदिरा पीनेकी जरा भी आदत नही है, न कभी पी है, दूर रहता है और दूर रहना ही चाहिए, ऐसा उसका सकल्प है, फिर भी किसी रोगमे ग्रस्त होनेपर, कुटुम्बीजनो द्वारा किसी दवामे मदिराका सयोग करके पिलाया जाय तो उसे बेहोशी नही आती। एक तो वह दवाके साथ है, दूसरे मदिरासे वह विरक्त है तो इसका भी अन्तर पडता है, कि विरक्त होनेसे उसका मद न चढे। कभी थोडा अन्तर यह देखा जाता कि कोई बेहोश करने वाली चीज पी ली किसी परिस्थितिमे जबरदस्ती और अपने ज्ञानकी ओर दृष्टि बनाय रहे कि मैं तो स्वच्छ ज्ञानमूर्ति हूँ और उससे मेरा कुछ लगाव नही, वह पीनेमे आया है तो कुछ समय बाद दूर हो जायगा, ऐसा भीतरमे भाव रखे तो उसका नशा सामान्य रहेगा और पीकर उसहीमे आसक्त हो, वह ऐसा बार-बार सोचे कि मैंने पिया है, तो उसके नशा शीघ्र ही आयगा, विरक्तिसे भी कुछ अन्तर पड जाता है बाहरी बातोमे भी। फिर तो जहाँ अपने आत्मामे ही विषयविरक्ति पडी हुई है वहाँ कदाचित् कर्मकी प्रबलतासे भोग भी भोगने पडे तो वह उनसे विरक्त रहता है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवकी वह श्रद्धा कलाका इतना अद्भुत माहात्म्य है कि उसको निरन्तर अपने सहज अविकार स्वरूपमें प्रतीति रहती है और यही बडी कमायी है, जो अपने आपसे ऐसी प्रतीति बना ले, सदा यह ही ध्यान रहे कि मैं तो अविकार चेतनामात्र ज्ञाताद्रष्टा हूँ और जो कुछ मुझपर मलिनता छा रही है, यह सब

कर्मकी छाया है। मैं तो अविकार शुद्धस्वरूप हूं, ऐसी प्रतीति दृष्टि निरन्तर रहती है तो उसका मोक्ष नियमसे है। जैसे लोकमे अपने नामकी प्रतीति निरन्तर रहती है कि मैं अमुक चद हू, अमुक लाल हू, तो इसी तरहसे समझें कि अपनेमे अविकार ज्ञानस्वरूपकी प्रतीति निरन्तर रहे कि मैं तो यह स्वरूप हू, तो इस प्रतीतिके बारेमे यह जीव समस्त बाधाओसे निवृत्त हो सकता है। तो इस सम्यक्त्वाचरणमे शोकादिक दोष नही होते, इस कथनमे शका और वाञ्छा ये दोष बताये गए कि इन दोषोसे वह सम्यग्दृष्टि जीव जुदा ही रहता है।

(१६) सम्यक्त्वाचरणमे निर्जुगुप्सता—ज्ञानी जीव जुगुप्सासे भी दूर है। वस्तुके स्वरूपमे या धर्ममे ग्लानि करना जुगुप्सा है। धर्मात्मामे ग्लानि करना, धर्ममे ग्लानि करना यह सब जुगुप्सा है। जुगुप्सा अगर हो तो यह अपनी श्रद्धासे चिग जायगा। धर्मात्माको देखकर ग्लानि ज्ञानीके नही होती और अपने धर्मभावसे भी इस जीवको ग्लानि नही होती। ऐसी सम्यक्त्वाचरण रूप वृत्ति होना जीवका प्रथम चारित्र है। चारित्र सामान्य शब्दका अर्थ तारतम्यरूपमे चतुर्थ गुणस्थानसे प्रारभ होता है, परतु विशेष रूपमे सयमाचरणसे है सो वह भी तारतम्यरूपमे ऊपरके गुणस्थानो तक बढ़ता चला गया है। चतुर्थ गुणस्थानमे धर्मके प्रति जुगुप्सा नही, किन्तु उमग है, धर्म ही हितमय है, धर्मसे ही आत्मोद्धार है यह दृढ प्रतीति है और धर्मके अभिमुख उसका उपयोग है यह भी चारित्रका अश है जिसे सम्यक्त्वाचरण अथवा स्वरूपाचरण कहते हैं, किन्तु यह आचरण व्रतरूपमे न होने से चारित्र नामसे समभिरूढ नही है। ज्ञानी जीवको धर्मभावसे जुगुप्सा न होकर धर्मके प्रतिरुचि वृत्ति होती है। यह सम्यक्त्वाचरण चारित्र है।

(१७) सम्यग्दृष्टिका मूढतारहित व उपबृंहित आचरण—चारित्रपाहुड ग्रन्थमे चारित्रके वर्णनके प्रारम्भमे चारित्रको दो प्रकार कहा— सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण। जो लोग सयमाचरणको ही चारित्र मानते हैं वे सम्यक्त्वाचरणको चारित्र माननेमे विवाद करते हैं, और जो प्रमादी हैं, व्रतमे जिनका उत्साह नही वे सम्यक्त्वाचरणको ही स्वरूपाचरण शब्दसे कहकर सतुष्ट हो जाते हैं, पर सम्यक्त्वाचरण तो सम्यक्त्वके होनेपर जो कुछ आत्माकी वृत्ति जगती है वह सम्यक्त्वाचरण है। सम्यग्दृष्टि जीवका आचरण विवेकपूर्ण होता है। वह किसी कुदेव, कुगुरु, कुधर्ममे प्रवृत्ति न करके सुदेव, सुगुरु सुधर्ममे ही अपनी वृत्ति बनाता है यह भी तो एक आचरण है जो खोटे देव, गुरुसे हटकर साचे देव, गुरुकी ओर अपना उपयोग लगाता। ऐसा सम्यक्त्वाचरण सम्यग्दृष्टिके होता ही है, जो मूढ हैं, जिनके सम्यक्त्व नही है वे अनेक सरागी देव हिंसामयी धर्म, परिग्रह सहित गुरु, इनमे बिना विचार किए ही अनेक प्रकारकी प्रवृत्तियां करता है, सेवायें करता, अनेक प्रकारकी अन्य क्रियायें करता, यह

मिथ्यात्वका आचरण है। उल्टे मार्गपर चलना यह भी तो एक आचरण है, पर वह विपरीत आचरण है। सम्यक्त्वाचरणमे मोक्षमार्गसे संबंधित आत्मा और साधनोसे ही प्रीति होती है और वहां ही उसकी प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि जीव धर्मात्मा पुरुषोसे और धर्ममे चूंकि उसे प्रीति है तब कदाचित कर्मोदयसे किसी धर्मात्मा पुरुषमे कोई दोष बन जाय तो उस धर्मात्मा की अवज्ञा नही करना। जैसे कहते हैं दोष छुपा लेना अर्थात् समाजमे उसको दोषी प्रसिद्ध न करना, वह समझायेगा उस ही को अकेलेमे, पर सब लोगोमे, जनतामे उस धर्मात्माका दोष कहकर जो जनताको धर्मसे डिगाना है, और इससे कितने ही मनुष्योका अपकार होता है। सम्यग्दृष्टि जीव जनताका अपकार नही करता, धर्मात्माकी अवज्ञा नही करता, क्योकि अवज्ञा होनेसे एक तो वह धर्मात्मा पुरुष स्वय दोष करनेमे निशक बन जायगा, दूसरे—जनता धर्मसे डिग जायगी कि धर्मात्मा लोग ऐसे ऐसे दोष किया करते है। तो धरम वरम कुछ नही, ऐसा सोचकर जनता भी धर्मसे डिग जायगी। तब सम्यग्दृष्टि जीवका आचरण धर्मात्माओकी रक्षा करनेमे और उनका आदर बनाये रखनेमे है, और धर्मका आदर बनाये रखनेमे है। साथ ही धर्मात्माको दोषरहित देखनेकी उसकी दृष्टि है और इसी अभिप्रायसे धर्मात्माको वह एकान्तमे समझाता है।

(१८) सम्यग्दृष्टिका स्थितिकरण वात्सल्य व प्रभावनासम्बन्धित सम्यक्त्वाचरण— सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी धर्मीको धर्ममे चिगता हुआ देखे, धर्ममे स्थिर नही है ऐसा देखे तो उस को धर्ममे स्थिर करनेके साधन जुटाता है। यह किस कारण धर्मसे चिग रहा है, क्या इसे कोई कष्ट है या इसे कोई वासना जगी है, उन सब बातोको समझकर जैसे वह धर्ममे स्थिर हो सके उस तरहकी वह वृत्ति करता है। यह सम्यक्त्वके होते ही सभव है, इस कारण यह सम्यक्त्वाचरण है। धर्मसे प्रीति रखते हुए धर्मात्माको धर्ममे स्थिर करना यह ज्ञानीके ही सभव है। वैसे अज्ञानी लोग भी धर्मात्माओकी सेवा करते हैं और उनकी स्थिरताका प्रयत्न करते है किन्तु वे केवल अपनी मान बडाई या लोकव्यवस्था आदिकके भावोसे ही कर सकते हैं। धर्ममे उमग उठे इस नातेसे धर्मात्माके प्रति बर्ताव बनाना यह ज्ञानीके सभव है। सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मात्मा जनोसे प्रीति रखते है, ईर्ष्या द्वेष नही करते और जितना सभव हो सके उतना ही उनको सेवामे अपना सहयोग देते हैं। यदि धर्मात्मा जनोसे विशेष प्रीति न जगे तो यह अवात्सल्य है। और ऐसा अवात्सल्य ज्ञानीके सभव नही है। ज्ञानीके धर्मात्माके प्रति अप्रीति सभव नही है। सम्यग्दृष्टिको धर्ममे तीव्र रुचि हुई है अतएव उस धर्मकी महिमा जगत मे प्रसिद्ध करनेका भाव रहता है और उस ही की वृत्ति चलती है। इस धर्म प्रभावनामे ज्ञानीको नामकी ख्यातिकी मनमे कोई बात नही आती। केवल एक इस धर्मको जगतके जीव

जानें, जिसके प्रसादसे संसारके सकंट कटते है। इस भावनासे वह धर्मप्रभावनामे अपनी कोशिश करता है।

(१९) **सम्यग्दृष्टिके सम्यक्त्वके प्रकार**—सम्यक्त्वाचरण तीनो प्रकारके सम्यग्दृष्टियो के है। औपशमिक सम्यक्त्व वाले, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व वाले और क्षायिक सम्यक्त्व वाले औपशमिक सम्यक्त्वका तो अन्तर्मुहूर्त समय है, वह भी अन्तर्मुहूर्त, मिनट दो मिनट। क्योकि जब तक ७ प्रकृतियोका उपशम है तब तक इसके औपशमिक सम्यक्त्व रहता है। उपशमकाल समाप्त होते ही उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाने पर भी उस पुरुषकी व्यावहारिक क्रिया सही ढगसे होती है, क्योकि उसको सम्यक्त्व हो जाने से एक संस्कार मिल गया है, लेकिन सम्यक्त्वभाव सहित परिणाम नही जग सकते। क्षायिक सम्यक्त्व निर्मल है और सदा रहा करता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व मलिन सम्यक्त्व है, क्योकि अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन ६ प्रकृतियोका तो जब उदयाभावी क्षय हुआ और इन ६ प्रकृतियोका जो सत्तामे हैं, आगे उदय होना सभव है। उनका उपशम हुआ और सम्यक्त्वप्रकृतिका उदय हुआ ऐसी स्थितिमे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। इस स्थितिका सही नाम है वेदक सम्यक्त्व, पर जहाँ सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय नहीं है वहाँ भी यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। जैसे जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तो उससे पहले इन ७ प्रकृतियोका क्षय होते समय सम्यक्प्रकृतिका वेदन नही चलता। उस अन्तर्मुहूर्तमे वह वेदक सम्यक्त्व नही कहा जाता किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो है ही। इस सम्यक्त्वमे चल मलिन अगाढ दोष रहते है किन्तु ये दोष सम्यक्त्वाचरणको नहीं बिगाड पाते, इतना सूक्ष्म दोप है फिर भी यह अतिचार तो है ही। यह अतिचार भी त्यागनेके योग्य है।

(२०) **सम्यग्दृष्टिका अविमुग्ध सम्यक्त्वाचरण**—सम्यग्दृष्टि जीव कुदेवमे मूढ न बनकर वीतराग सर्वज्ञदेवके प्रति भी अपनी भक्ति विनय रखता है। खोटे आचरणसे हटा और कुछ सही आचरणमें आनेको है तो यह आचरण न कहलायगा क्या? यही है सम्यक्त्वाचरण। सम्यग्दृष्टि जन पाखंडी पुरुषोका जो परिग्रह आरभ सहित हैं, जो हिंसा आदिकमे कार्य किया करते हैं, पाखडी भेष रखते हैं उनका सत्कार पुरस्कार नही करते, किन्तु जो विषयोके वश नही हैं, आरभरहित हैं, परिग्रहरहित हैं, ज्ञानध्यान तपश्चरणमे लीन हैं ऐसे साधु जनो के सत्कार पुरस्कारमे रहते हैं। जैसे कि सरागी देवोकी पत्थर आदिकमे स्थापना कर उनकी सेवामे नही रहता; किन्तु वीतराग देवकी भक्तिमे वह विनयसहित वर्तता है।

(२१) **सम्यग्दृष्टिके लोकमूढता रहित आचरण**—सम्यग्दृष्टि जनोके अटपट लोक-

मूढतायें नही बनती । जिन कार्योंसे रत्नत्रयका संबध नही, बल्कि मिथ्यात्वका ही पोषण बने ऐसी प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टिके नही होती, किन्तु रत्नत्रयसे संबधित स्थितियोमे उसकी प्रवृत्ति होती है। वे कौनसे कार्य है जो लोकप्रसिद्ध हैं और आत्माकी सुधसे अलग कर देने वाले है ? जैसे सूर्यको अर्घ देकर आत्माका धर्म किया ऐसा मानना । वह सूर्य क्या है जो दिख रहा है ? वह तो पृथ्वीकायिक विमान है और उस पृथ्वीकायिक विमानका जो अधिपति इन्द्र है सूर्य वह प्रतीन्द्र है, वह सरागी है, देवगतिका जीव है, संसारमे जन्म मरण करने वाला है। सरागीकी पूज्यता क्या ? पृथ्वीकायिककी पूज्यता क्या ? जिसके चित्तमे अविकार ज्ञानपुञ्ज नही है वह जिसकी भी आराधना करे वह सब एक लोकमूढता ही बनेगी। जैसे कभी सूर्य चन्द्रका ग्रहण हो जाय तो उसमे अपवित्र मान लेना कि मेरे भगवानपर आपत्ति आयी है, और जैसे मानो कोई मर चुके हो तो उसका सूतक मानना और किसी नदी या समुद्रमे स्नान करके अपनेको शुद्ध होना मानना, इसका ज्ञानपुञ्ज आत्माकी अभिमुखता होनेसे क्या सबध ? सूर्यग्रहण और चद्रग्रहणका जिसे तथ्य नही विदित है और भगवानका स्वरूप जिसे नही विदित है ऐसे मनुष्यकी दो ढगोमे प्रवृत्ति होती है । सूर्यविमानके नीचे केतु विमान रहा करता है । सो वे जब अलग-अलग विचरण करते है तब ग्रहण नही है और जब केतु विमान सूर्यविमानके एकदम सीधे नीचे आ जाता है, तो केतु विमान है कृष्ण वर्णका, ज्योतिरहित । उसके आगे आनेसे सूर्यकी रोशनी ढक जाती है, यह ही कहलाता है सूर्यग्रहण । चद्रविमानके नीचे राहुविमान चलता है, तो जब अलग-अलग चलते तब तो ग्रहण नही है और जब राहु चद्रके नीचे आ जाता है तो राहुका काला नीला वर्ण भी है और ज्योतिरहित है, उसके आडे आते ही चद्रकी कान्ति रुक जाती है, वह चन्द्र ग्रहण है। तो यह तो एक लौकिक घटना हुई न कि किसी भगवानपर उपद्रव हुआ । जो भगवान है उसपर कभी उपद्रव हो ही नही सकता क्योकि वह तो ज्ञानपुञ्ज है, वीतराग है, सर्वज्ञ है। वहां सकटका काम क्या ? लेकिन कल्पना करके लोकके किसी भी पदार्थको पूजना यह सब लोकमूढता है । सम्यग्दृष्टिके लोकमूढतारूप आचरण नही बनता ।

(२२) **लौकिक प्रयोजनमे सहायक पदार्थोको देव माननेकी मूढतारहित सम्यक्त्वाचरण**—अग्निको देव मानना और घर कुवा डेहरी आदिक पूजना, ये सब आत्माकी सुधसे एकदम अलग रखने वाली चेष्टायें है। घरमें रहते हैं, आराम मिलता है इसलिए लोग घरको देव मानने लगते। अग्नि न हो तो भोजन कैसे बने? तो जो केवल जीवनका ध्येय पेट-पालन ही मानते हैं उनके लिए तो अग्नि भगवान बन गई, क्योकि उनकी श्रद्धा है कि यह न हो तो हम मर जायेगे, पर यह तो एक लोकव्यवस्था है, निमित्तनैमित्तिक योग है, ये सब च ते

रहते हैं, पर आत्मा तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दस्वरूप वाला है। उसको तो यह सब सकट है। शरीर धारण करना, जिन्दगीसे जीना, क्षुधा तृषा आदिक की बाधायें होना, यह सब इस जीवके लिए कलक है। स्वरूपसे तो यह अमूर्त सिद्ध भगवान स्वरूप है, पर इसकी दृष्टि न करके और जो जो अपने जीवनमे सहायक हैं उन उनको भगवान मान लेना यह सम्यग्दृष्टिकी वृत्ति नही है। वटका वृक्ष होता है बहुत बडा कोई कोई तो एक फर्लांग तकके लबे चौडे वट वृक्ष होते हैं। कहो उसके नीचे सेना ठहर जाय, बरसात में अपनेको भोगनेसे बचा लिया जाय, उस वट वृक्षके नीचे जाड़ेके दिनोमें ठहर जाय तो गर्म वातावरण रहे और गर्मीके दिनोमे ठहर जाय तो ठडा वातावरण रहे, यो अनेक सुविधावोके कारण वट वृक्षको भी लोग देव मानकर पूजते हैं, तो जिस जिस चीजसे इस शरीरका उपकार होता है वे वे अज्ञानियोकी दृष्टिमे भगवान है।

(२३) लौकिक जीवनके सहायक वस्तुका महत्त्व बढानेकी कल्पनारहित ज्ञानीका आचरण—बालकके पालन-पोषणके लिए माँ का दूध आवश्यक है और बालकके लिए, जवानोके लिए, जवानोके लिए, वूढोके लिए गाय, भैंस आदिका दूध आवश्यक है। गायके दूधमे अन्य सबके दूधसे अधिक विशेषता यह है कि वह निर्दोष और पुष्ट होता है। तभी तो अनेक प्रकारकी बीमारियोमे डाक्टर वैद्य लोग गायका दूध बताते है। तो गायको लोग अनेक देवताओका स्थान मानते हैं। गाय एक ही देव नही है, किन्तु उसमे हजारो देव बसे होते हैं। अब प्रयोजन तो यह था कि दूध पोषक है, उसके बिना जीवन ठीक नही चलता इसलिए हमारे देव हमारे भगवान तो सब इसीमे हैं, ऐसा अज्ञानी जनोने माना। मान तो लिया और कह दिया कि गायमे तो करोडो देवता रहता है, पर यह नही समझा कि कहाँ रहते, किस जगह रहते। मान लो गायके सिरकी ओर देवता माना और उसकी पूजा करने लगा। अब मार दे वह सीग तब तो फिर पूजा पाठ सब भूल जायगा, यह विचारकर उन्होने गाय की पूँछमे देवता माना। बहुतसे लोग तो गायकी पूछको देवता मानकर उसे नमस्कार करते हैं। इन सब बातोसे तो उसमे मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है। इससे रत्नत्रयको क्या मदद मिली? ज्ञानी पुरुषके ऐसी अटपट वृत्तियाँ नही होती। ज्ञानी तो धर्मके धामकी ही पूजा करता है; अज्ञानमे इतना खोटा आचरण चल गया कि जहाँ भक्ष्य अभक्ष्यका कुछ भी ख्याल नही रखा गया। अनेक लोग तो गायका मूत्र पीनेमे धर्म मानते हैं। कैसी बुद्धि है, कहाँ दृष्टि है? जो जो चीजें मनुष्यके जीवनमे काम आयें उन उनकी यह पूजा करता है।

(२४) जीवन सहायक विविध देवताओंकी मान्यताकी मूढ़तारहित ज्ञानीका आचरण—दीवाली पर्व या अन्य समारोहमे रत्न, घोडा, हाथी आदि वाहनोकी पूजा की जाती है।

जिसके घरमे घोडा नही है तो वह गधा की पूजा कर लेता। तो जो कमाने वाहन आया जिसको यह जाना कि यह उपकारी है, इसके बिना जिन्दगी नही बनती उनकी दृष्टिमे वह देवता बन जाता है। पर ज्ञानी पुरुष जिसने अपने अविकार ज्ञानस्वभावका अनुभव किया है और उससे अलौकिक आनन्द पाया है तो स्वरूप दृष्टिसे जिसको सब निर्णय है कि मैं केवलज्ञान स्वरूपमे रत रहूगा। अनन्त काल रह लूगा, इन विकल्प तरगोकी प्रवृत्ति बिना ही अनन्त काल धर्मास्तिकाय आदिक द्रव्योकी तरह मेरा रहना चलता रहेगा। ऐसी जिसकी श्रद्धा है वह धमधामको छोडकर अन्य किसीसे भी प्रीति नही रखता। कितने ही पुरुष पृथ्वी की पूजा करते, वृक्ष, शस्त्र पर्वत आदिककी पूजा करते है। नदी समुद्र आदिकको तीर्थ मान कर स्नान करते है। कितने ही लोग तो पर्वतसे गिरकर मरकर ऐसा मानते हैं कि मुझे बैकुण्ठ मिल जायगा। कभी अग्निमे भी प्रवेश कर बैठते है, तो ये सब अटपट आचरण होते है एक सन्मार्ग अंतस्तत्त्वका बोध न होनेसे। सम्यग्दृष्टि पुरुष इन सब विपरीत आचरणोसे अलग ही रहता है और वह तो दर्शन ज्ञान चारित्रका विनय करता है, तपका विनय करता है और इन चारोके आराधकोकी विनय करता है। सम्यक्त्वाचरणमे सम्यक्त्वपोषक, चारित्र-पोषक आचरण हुआ करता है, जहाँ धर्मका स्थान ऐसे कुगुरु कुदेव, कुशास्त्र और इनके मानने वाले पुरुषोमे ज्ञानी पुरुषकी रुचि नही होती।' ज्ञानी तो देव, शास्त्र, गुरु और इनकी आरा-धनाके प्रति ही विनय सेवाभक्ति आदिकका आचरण करता है।

(२५) ज्ञानीका मदरहित धर्मविनम्र आचरण—ज्ञानी पुरुषने अपने आपके अनन्त वैभवका परिचय किया है। वह अनन्त वैभव अपने स्वभावमे है और उस स्वभावका अनुभव करके अलौकिक आनन्द पाया है। अब उसका विनयभाव धर्म और धर्मके धारकोके प्रति ही रहता है और उससे ही अपना महत्त्व जानता है। अज्ञानी पुरुषोकी भाँति जाति मद वगैरह ज्ञानीके नही होते, क्योकि जिसने अपने अलौकिक वैभवको नही जाना और लोक व्यवहारमे रूढ़ पुरुषोकी भाँति जाति, कुल, देह प्रतिष्ठा ज्ञानरूप बल आदिक पाये हैं तो उनमे यह विकल्प मानता है। केवल देह दृष्टि है अज्ञानीके उस देहके नाते ही इन सब समागमोमे भी घमड रहा करता है, यह तो कर्मोदयाधीन है, विनश्वर है, मेरा स्वरूप नही है। यह तथ्य अज्ञानीको नही विदित है। वह तो जो समागम पाया उसे ही अपना सर्वस्व मानकर, उससे ही अपनेको महत्वशाली मानकर गर्व करता है और अन्य पुरुषोको तुच्छ गिनता है। पर ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञानस्वभावके वैभवको महत्व देता है। और समस्त परभावोमे उस ही स्वभावको निरखता है और ऐसी महानता सब जीवोमे समझता है और यही कारण है कि ज्ञानी जीव सब जीवोके प्रति नम्र रहता है। वह किसी भी जीवका अनादर नही चाहता।

धर्मके लिए और शान्ति होनेके लिए जीवनमे एक यह नियम होना चाहिए कि मेरे द्वारा किसी जीवका अनादर न हो । इससे वह इस लोकमे भी सुखी रहेगा और उसे धर्मका मार्ग भी मिलेगा । तो ज्ञानी जीवके सब जीवोके प्रति ज्ञानस्वभावकी महिमा जानकर नम्र और वात्सल्यपूर्ण वृत्ति हुआ करती है ।

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिछा अमूढदिट्ठी य ।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्लु पहावण य ते अट्ठ ।।७।।

(२६) **सम्यग्दृष्टिका निःशकित सम्यक्त्वाचरण**—मोक्षमार्ग सम्यक्त्वाचरणसे प्रारभ होता है । जिसके सम्यक्त्व जैसा आचरण नही है वह संयममे कैसे प्रवृत्ति कर सकता ? उस सम्यक्त्वाचरणमे कैसी कैसी कैसी वृत्तियाँ होती हैं यह बात इस स्थलमे कही जा रही है । इस गाथामे यह बतला रहे है कि सम्यग्दृष्टि जीवके ८ अगरूप आचरण चलता है । जैसे शरीरके ८ अग होते हैं, उन अगोके बिना शरीर किसका नाम ? इन ८ अगोमे पहला (१) अग है निःशकित अंग । जिनेन्द्र भगवानके वचनोमे शंका न करना यह तो है व्यवहार निःशकित और आत्माके अविकार सहज स्वरूपमे शका न करना यह है निश्चय निःशकित अग । निःशङ्कताका आत्मामे अद्भुत प्रभाव पडता है । जिसको आगमके वचनोमे शङ्का नही वह आगमपर श्रद्धाके बलसे ही अपने आत्मामे अद्भुत प्रभाव पैदा कर लेता है और फिर जिसको युक्ति और अनुभवसे निर्णीत हो गया, आगममे कहे गये तत्व, उसका अद्भुत प्रभाव पडता है, वह मुक्ति पाता है ।

(२७) **निःशंकित अंगका एक उदाहरण**—निशकित अगमें एक कथा आती है अजन चोरकी । उसको एक गुटका भी सिद्ध था कि जिससे चलते हुए भी वह लोगोको न दिखाई पडे । वह चोर व्यसनी हो गया । जो चोरी करता है उसमे धीरे-धीरे सभी व्यसन आ जाते हैं, सो वह अंजन चोर एक वेश्यामे आशक्त हो गया । एक बार उस वेश्याने अजन चोरसे कहा कि मुझे अमुक रानीके गलेमे पड़ा हुआ हार लाकर दो, सो वह उस हारको लानेकी कोशिशमे रहा और अंजनके बलपर शरीरको अदृश्य करके राजमहलमे पहुचकर वह हार भी चुरा लाया, किन्तु स्वय तो चाहे किसी कलाबलसे अदृश्य रहे, पर हारको कैसे अदृश्य करे, आखिर वह चमकता हुआ हार लिए जा रहा था, उस हारको देखकर उसके पीछे सिपाही लग गए तो इस अजन चोरने उस हारको किसी जगह डाल दिया । वहाँ कोई एक मुनिराज बैठे थे । खैर वह अजन चोर तो आगे बढ गया । सिपाहियोने मुनिराजको ही चोर समझकर उनके ऊपर शस्त्रका प्रहार किया, वह शस्त्र फूलमाला बन गया । खैर यह तो उपकथा है । वह अजन चोर बेतहासा भागता हुआ एक पेडके नीचे पहुचा । वहाँ एक सेठ णमोकार मत्र

की सिद्धि कर रहा था। नीचे अनेक हथियार सीधे खडे कर रखे थे—भाला, बरछी, तलवार वगैरह, और एक शाखासे १०८ लडीका पतले सूतका छीका लटका रखा था और उसपर बैठा हुआ वह णमोकार मत्र सिद्ध करना चाहता था, पर उसको एक शका हुई या कुछ हो, वह बार-बार उसमे उतरता और चढता था, वहाँ यह अजन चोर भी पहुचा और पूछा कि आप क्या कर रहे हो तो उसने कहा कि हम मत्र सिद्ध कर रहे "कैसा मत्र ' आकाशगामिनी विद्या।' वह मत्र क्या है? "(णमोकार मत्र बोलना) णमो अरहत ण" इसको तो हम सिद्ध करेंगे। तो वह छीकेपर बैठ गया। आखिर उसने पहलो बार ही तो मत्र सुना था, वह भूल गया। 'अरहताण' याद न रहा तो लोग बतलाते है कि वह केवल यह ही बोलता गया—'आण ताण सेठ वचन प्रमाण' याने जो सेठने कहा वह मेरा आराध्य है। ऐसा दृढ श्रद्धान करके वह छीकेपर बैठा हुआ छीकेकी लडी कटने लगा। बहुतसी लडो कट जानेपर उसे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गई, फिर चैत्य वदना की, ज्ञानलाभ लिया, फिर धर्ममे आगे बढा। तो नियत्रित आगेकी बात इस गाथामे यह बतायी गई कि जिनवचनो पर केवल एक आनुमानिक बात रखकर यदि श्रद्धा की तो उसे सिद्धि मिलती है। तो जो पुरुष आगममे श्रद्धा रखता है, अपने आत्मस्वरूपमे श्रद्धा रखता है वह निशक होकर मुक्तिका लाभ प्राप्त करता है। तो सम्यग्दृष्टिको अपने आत्मस्वरूपके सबधमे शकारहित वृत्ति रहा करती है।

(८) सम्यग्दृष्टिका निःकांक्षित सम्यक्त्वाचरण—(२) दूसरा अग है—निःकाक्षित अंग। भोगे हुए विषयोकी चाह न करना। अपने मनको सम्हाले, और आत्मदया रखे, अविकार सहज स्वरूपकी भक्तिसे अपने आपमे रमकर तृप्त रहे, उसे भोगकी इच्छा कभी हो ही नही सकती। सम्यग्दृष्टि जीवने इस आत्मस्वरूपका अनुभव किया और एक अलौकिक आनन्द पाया, इस कारण उसको किन्ही भी बाह्य भोगोमे वाञ्छा नही रहती। एक चक्रवर्तीकी कन्या अनन्तमती इस अगमे प्रसिद्ध मानी गई है। वह बहुत सुन्दर थी तो अवसर पाकर कोई उसे हर ले गया, फिर पता लगाकर लायी गई, उसी क्षण उसे कोई दूसरा हर ले गया। इस तरह एक विद्याधर उसे हरे लिए जा रहा था। पीछेसे सेनाने ललकारा तो आखिर वह एक जगल मे अनन्तमतीको छोडकर चला गया। अब उस भयानक जगलमे अनन्तमतीने कई हजार वर्ष तक धर्मबुद्धिसे रहकर अपने आत्माको सम्हाला। कदाचित् कुछ खाया पिया भी हो, उपवास बहुत किया, तन ढाकनेको कपडे न रहे तो नग्न ही रहकर या कुछ छाल वगैरह लपेटकर वहा समय बिताया और अन्तमे एक अजगर द्वारा वह गसी गई। उसी समय उसका पिता भी वहाँपर पहुचा। अनन्तमतीका आधा अग उस समय अजगरके मुखमे था। वहा उसक

पिताने अजगरमे खण्ड करके अनन्तमतीको मरनेसे बचाना चाहा, पर अनन्तमतीने वहाँ यही कहा कि हे पिताजी, अब इसे मत मारो, इसे अभयदान दो···, आखिर वह समाधिमरण कर गई। तो देखिये वह अनन्तमती भोगोके प्रति कितना विरक्त थी जिसके प्रतापसे वह स्वर्गोमे देवी हुई, और वहाँके बाद विशल्या हुई, जिसकी इतनी बडी महिमा थी कि उसके नहाये हुए जलकी छीट अगर किसीपर पड जाय तो उसका रोग दूर हो जाय। तो भोगोके प्रति जिसे आकाक्षा नही रहती उसकी आत्मामे इतनी पवित्रता बढती है कि उसके नहाये हुए जलके छीट पडनेसे रोगीके रोग दूर हो जाते हैं। जो निःकांक्षित भावसे अपना जीवन बिताते है वे जीव मुक्तिको प्राप्त करते है।

(२६) सम्यग्दृष्टिका निर्विचिकित्सित सम्यक्त्वाचरण—(३) तीसरा अग है निर्विचिकित्सा अग। धर्ममे या धर्मात्माजनोमे ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा अग है। ज्ञानीने अविकार सहज ज्ञानस्वभावो धर्मतत्त्वका परिचय किया है और उस दृष्टिका सहज अलौकिक आनन्द पाया है तो उसको धर्ममे घृणा तो क्या, उसे धर्ममे, धर्मके धारक साधुजनोपर अत्यन्त रुचि होती है, उनको ग्लानि नही होती। धर्ममे रुचि करने वालोके दृष्टान्त सैकडो है। बडे बडे उपद्रव उपसर्ग आये सुकुमाल, सुकौशल, गजकुमार आदिक मुनियोपर पर उनको धर्मम इतनी प्रीति थी कि उन उपद्रवोमे भी उन्होने धर्ममे ग्लानि नही की और व्यावहारिक निर्विचिकित्सा अंगमे एक सेठ उद्दायन प्रसिद्ध है। जिसकी प्रशसा स्वर्गोमे भी आत्मकल्याण चाहने वालोके द्वारा होती हैं। इन्द्रकी सभा लगती है, धर्म चर्चा होती है तो वहाँ एक चर्चा आयी कि मेरे समान भूमिपर एक सेठ उद्दायन है। उसे धर्ममे अडिग प्रीति है, वह धर्मात्माओकी बिना घृणाके बडी सेवा करता है। तो एक देवके मनमे आया कि यहाँसे चलकर उसकी परीक्षा तो करें। तो एक मुनिका रूप रखकर वह आया। उद्दायनने उसे पडगाहा, आहार दिया पर उसे आहार तो करना न था सो उसने अपनी मायासे कै कर दिया। वहाँ वह उद्दायन अपने कर्मो पर (पापोदयपर) बहुत पछताया और मुनिकी सेवा बराबर करता रहा, उससे घृणा नही की। उसके शरीरको धोया सारा कै साफ किया। पश्चात् उस देवने अपना सही रूप प्रकट किया और उस उद्दायनको नमस्कार करके कहा कि धन्य है आपकी दृढताको। जैसा कि मैंने स्वर्गोमे सुना था ठीक वैसा ही पाया। जैसा माँ अपने बालककी सेवा करनेमे किसी प्रकारकी घृणा नही करती ऐसे ही ज्ञानीजनोको धर्म और धर्मात्माओसे प्रीति रहती है। तो धर्मात्मा जनोके शरीरसे कदाचित् मल मूत्र भी झरे, देह बडा अपवित्र हो गया हो फिर भी उन्हे ग्लानि नही आती। तो सम्यग्दृष्टि पुरुष ग्लानि रहित होकर धर्मात्माओके प्रति ऐसा व्यवहार करते है।

(३०) सम्यग्दृष्टिका अव्यामोहित आचरण—(४) चौथा अङ्ग है—अमूढदृष्टि। अ

मायने नही, मूढ मायने मूर्खता, याने ऐसी दृष्टि बने कि जिसमे मोहका प्रश्रय नहीं, कु-व कु-शास्त्र और कुगुरु इनमे मुग्ध न हो ऐसी दृढताको कहते हैं अमूढ दृष्टि। जिसने आत्माके अविकार स्वरूपका परिचय पाया है और मुक्तिका सही मार्ग जाना है कि अपने आपको केवल चैतन्य प्रतिभास मात्र अनुभव करें तो मुझे मुक्तिका लाभ हो, ऐसे दृढ श्रद्धानी जीवको कुदेव, कुशास्त्र कुगुरु इनमे कैसे प्रीति जग सकती। इस अगमे रेवती रानी प्रसिद्ध हुई है। एक क्षुल्लक ने किसी मुनिसे यह जानकर कि रेवती रानी एक निकट भव्य है, दृढ श्रद्धानी है। उसकी परीक्षा करनेके लिए मायासे, विक्रियासे अनेक दृश्य दिखाया, पर वह किसी भी दृश्यमे मुग्ध न हुई। ब्रह्मा विष्णुके जैसे अनेको प्रकारके चरित्र भी दिखाया किन्तु उनमे वह रेवती रानी आकर्षित न हुई। एक तीर्थंकरका जैसा समवशरण या अन्य बातें ये सब दिखाया, पर रेवती रानीने यह ही श्रद्धा रखा कि आगममे २४ तीर्थंकर कहे गए है, २५ वां तीर्थंकर तो कोई अभी हो ही नही सकता, सो वह उस समय भी अपनी सही श्रद्धासे न डिगी। वहां उस क्षुल्लकने उस रेवती रानीको बडी प्रशसा की। तो अविकार अतस्तत्त्वमे ही सम्यग्दृष्टिको प्रीति होती, वहां ही आस्था है और इसी कारण वह धर्मविरुद्ध प्रसगोमे रच मात्र भी प्रभावित नही होता, तो ऐसे आत्माके अविकार स्वरूपके अनुरूप सम्यग्दृष्टिका आचरण होता है।

(३१) **सम्यग्दृष्टिका उपगूहित आचरण**—पाँचवा अग है उपगूहन धर्मकी और धर्मात्माओंकी अवज्ञा न करना। कदाचित् किसी धर्मात्मा पुरुषमे कर्मोदयवश कोई दोष भी आ जाय तो उस दोषको जनतामे प्रकट न करना यह उपगूहन अग कहलाता है। यह धर्म का इतना व्यापक प्रेमी है। सम्यग्दृष्टि जीव कभी धर्मका अनादर नही सह सकता। इसका दूसरा नाम उपवृंहण भी है याने आत्माके गुणोका विकास बने। इस उपगूहन अंगमे एक जिनेन्द्र भक्त सेठ प्रसिद्ध हुआ है। उसने अपने महलमे ही एक चैत्यालय बना रखा था। उस चैत्यालयमे कीमती सिहासन चमर छत्र आदिक थे उनमे कीमती हीरा रत्न वैडूर्यमणि सोना चांदी आदिक कीमती सामान भी लगे थे। एक चोर ने यह बात किसी तरहसे सुन रखा था तो उसके मनमे आया कि मुझे इस चैत्यालयका सारा कीमती सामान चुराना चाहिए। सो वह एक ब्रह्मचारीका रूप रख कर आया। वह कुछ दिन तक उस चैत्यालयमे आकर पूजा पाठ वगैरहके कार्य दिखाकर अपनी बडी भक्ति दिखाने लगा। अपने को ब्रह्मचारी बताने लगा। उस सेठको उसपर विश्वास हो गया। धीरे धीरे वह नकली ब्रह्मचारी उसी चैत्यालयमे रहने लगा। एक दिन सेठको कही बाहर जाना था सो उस ब्रह्मचारीके सुपुर्द सब काम छोडकर वह सेठ बाहर चला गया। मौका पाकर एक रात्रिको वह ब्रह्मचारी वैडूर्यमणि लेकर भगा। वैडूर्यमणिकी चमक तो छिप नही सकती थी सो उस चमकती हुई मणि

को देखकर शहरके कोतवालने समझ लिया कि यह कोई चोर है जो इस चमकती हुई मणि को चुराकर लिए जा रहा है। सो उस शहरके कोतवालने उसका पीछा किया और पकड लिया। उसको पकडे हुए लिए जा रहा था कि इतनेमे वह सेठ भी वही आ गया और पहचान लिया कि यह वही ब्रह्मचारी है और यह मेरे चैत्यालयकी वैडूर्यमणि चुराकर लाया है, यह सब जान लिया मगर एक बातका ख्याल उसे हैरान करने लगा कि यदि मैं इसे चोर साबित कर दूँ तो सवेरा होते ही जनतामे यह बडा अपवाद फैल जायगा कि देखो इस धर्म के ऐसे ब्रह्मचारी होते हैं सो धर्मकी अप्रभावना बचानेके लिए उसने यही कहा कि अरे भाई इसे मत पकड कर ले जावो। यह वैडूर्यमणि तो मेरे चैत्यालयका है, मैंने ही इसे इसके द्वारा मगाया था। आखिर कोतवालने उसे छोड दिया। बादमे सेठने उसे डाटा डपटा या जो भी भला बुरा कहा वह बात और है पर अवसर पर तो उसने धर्मको अप्रभावनासे बचाया। तो सम्यग्दृष्टिका धर्म बढाने वाला आचरण हुआ करता है।

(३२) सम्यग्दृष्टिका धर्मस्थितिकर सम्यक्त्वाचरण—छठवां अंग है स्थितिकरण। स्वयं धर्मसे चिग रहा हो तो उत्तम भावनाओ द्वारा अपने आपको धर्ममे स्थिर कर देना स्थिति करण है। दूसरे लोग धर्मसे चिग रहे हो तो उन्हें धर्ममे स्थिर करना यह स्थिति करण अग है। जैसे चीटी भीतपर चढती है तो अनेको बार गिरकर भी वह अपना चढना बंद नही करती आखिर एक न एक बार चढ ही जाती है ऐसे ही किसी धर्मात्माको अनेक मौके आते हैं धर्मसे चिगनेके परन्तु जिन्हे धर्मधारण करनेकी तीव्र रुचि होती है वे एक न एक बार कभी धर्मके मार्गमे प्रगति कर ही लेते हैं। धर्म बिना किसीका पूरा न पडेगा। आखिर कोई धर्मसे डिग भी जाय तो भी उसको एक निर्णय है कि हमको इस धर्मका ही आश्रय लेना है।

(३३) स्थितिकरण सम्यक्त्वाचरणका एक उदाहरण—इस स्थितिकरण अंगमे वारिसेण महाराज बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। एक बार वारिसेण महाराज एक नगरीमे आहारचर्या के लिए गए, वह नगरी उनकी स्वयकी जन्मभूमि थी। अब वहाँ उनके ही गृहस्थावस्थाके एक मित्र पुष्पडालके घर उनका आहार हुआ। आहार करनेके बाद वारिसेण महाराज जगल के लिए चल पडे तो पुष्पडाल उन्हें कुछ दूर तक पहुंचानेके लिए साथ-साथ चल पडे। करीब १ मील तक साथ गए, पर वह कैसे कहे कि अब आप हमे वापिस लौट जानेकी आज्ञा दें, सो अपनी पुरानी बातोको उन्हे याद दिलाने लगे, यह भावना रखकर कि महाराज यह समझ लें कि इतनी दूर आ गए और वापिस लौटनेकी आज्ञा दे दें। क्या याद दिलाने लगे पुष्पडाल— महाराज, यह वही जंगल है जो कि शहरसे करीब १ मील दूर है, यहीपर हम आप घूमने

आया करते थे। महाराज वारिसेणने कुछ न कहा, फिर करीब २ मील तक निकल जानेपर पुष्पडालने कहा—महाराज यह वही तालाब है जो कि शहरसे करीब २ मील दूर पडता है। यही हम आप स्नान करनेके लिए आया करते थे। महाराजने कुछ न कहा। आखिर वह पुष्पडाल वारिसेण महाराजके साथ-साथ जंगल चले गए, वहाँ भावुकतामे आकर मुनिव्रत अगीकार किया, पर उन्हे यह ख्याल बार बार हैरान करता रहा कि मैं बिना स्त्रीसे कुछ कहे ही यहाँ चला आया हू, मुनिदीक्षा ले ली है, वह बेचारी क्या सोचती होगी···इस बातका ख्याल उन्हे सताने लगा। और भी मजेकी बात देखो कि उसकी स्त्री भी कानी थी, पर उसका राग उन्हे सताने लगा। वारिसेण महाराजने सब बात समझ लिया और उपाय भी समझ लिया कि किस तरहसे इन पुष्पडालको समझाना चाहिए। विचार किया कि विषयो के प्रति आसक्त हुए लोगोपर आखिर बात तो कुछ असर करेगी नही, कोई घटना ही असर करेगी, सो यह विचार करके उन्होने अपने घर सदेश भेजा कि अमुक दिन हम अपने घर आ रहे है, हमारी सभी रानियोको बहुत-बहुत सजाकर रखना। यह समाचार पाकर वारिसेण महाराजकी माता मनमे विचार करने लगी कि क्या हो गया अब हमारे लालको। वह तो एक महामुनि हो गए, पर अब घर आना क्यो विचारा, क्या बात है, फिर विचारा कि अरे वह कोई अज्ञानी तो है नही, आखिर इसमे भी कोई रहस्यको बात होगी जो उन्होने घर आने और सभी रानियोको सज-धजकर रखनेके लिए कहा। आखिर पहुचे उसी दिन वह मुनिराज पुष्पडाल मुनिके साथ। तो वहा क्या देखा कि दो सिंहासन पडे हुए थे, एक था काठका और एक था स्वर्णका। ये दो सिंहासन इसलिए लगाया था वारिसेणकी माता ने कि अगर मेरा बेटा अपने पदसे विचलित हो गया होगा तो स्वर्णके सिंहासनपर बैठेगा और अगर विचलित न हुआ होगा तो काठके सिंहासनपर बैठेगा। सो वहा पहुचनेपर वारिसेण महाराज तो स्वय काठ के सिंहासनपर बैठ गए और पुष्पडालको स्वर्णके सिंहासनपर बैठाया। (देखिये—गुरुकी आज्ञा पानेपर व स्थिति जानकर इस तरहसे बैठनेमे कोई दोषकी बात नही)। अब वहा पुष्पडाल मुनिने सब प्रकारका ठाठ देखा, रानियाँ देखी तो उस समय उन्होने अपनेको बहुत-बहुत धिक्कारा,··· अरे कहा मैं व्यर्थमे अपनी कानो स्त्रीका राग इतने दिनोसे रखता आ रहा था, हमारे ये गुरुदेव तो इतने इतने वैभवके व इस तरहकी सुन्दर रानियोके स्वामी थे फिर भी इन्होने अपने आत्मकल्याणके लिये इन सबका राग छोडा। बस अब क्या था ? पुष्पडालका राग गल गया और अपने धर्ममे सावधान हो गए। तो धर्मात्मा जनोको धर्मसे डिगते हुए देखकर उन्हे धर्ममे स्थिर करना यह एक सम्यग्दृष्टि पुरुषका आचरण होता है।

(२४) सम्यग्दृष्टिका वात्सल्यपूर्ण सम्यक्त्वाचरण—(७) सातवा अग है वात्सल्य

अग। इस अंगमे प्रसिद्ध हुए है विष्णुकुमार मुनि। जिन्होने ७०० मुनियोपर जब बलि आदिक मंत्रियोके द्वारा उपसर्ग ढाया गया था वहा उन मुनियोकी रक्षा की थी। तभीसे तो यह रक्षाबंधन पर्व चला। कथा तो इसकी लबी है पर सक्षेपमे यों समझो कि जब बलिने ७ दिनका राज्य लेकर अकम्पनाचार्य आदिक ७०० मुनियोको कैदमे रखकर उनके चारो ओर आग जलवा दी थी, उस समय विष्णु कुमार मुनि अपनी विक्रियासे बावन अंगुलका रूप रखकर उस यज्ञमे शामिल हुए केवल एक धर्मात्माओको रक्षाके ध्येयसे, तो उनपर प्रसन्न होकर बलि राजाने कहा कि तुम जो मागना चाहते हो सो माँग लो। वहा उस बावन अगुल गात वाले विष्णुकुमारने सिर्फ तीन पग भूमि मागी। तो बलिने हँसकर कहा — अरे इतनीसी भूमि क्यो मागते, कोई बडी चीज मागो। तो विष्णु कुमारने कहा—मुझे तो बस तीन पग भूमि ही चाहिए। तो बलि बोला—अच्छा नाप लो तीन पग भूमि। तो विक्रियासे विष्णु कुमारने अपना इतना बडा शरीर बना लिया कि एक पैर तो ढाई द्वीपके बीचमे रखा और दूसरे पैरसे सारे मानुषोत्तर पर्वतको घेर लिया और तीसरा पग रखनेको कही जगह न बची। उस समयका दृश्य बडा भयानक था। वहा बलि विष्णु कुमारके चरणोमे गिरा और बोला — बस अब क्षमा कीजिए, अपना तीसरा पग हमारी पीठपर रख लीजिए। आखिर वहां देवोने जल-वृष्टि की, बलिने क्षमा मागी, और इस तरहसे उन ७०० मुनियोका उपसर्ग दूर हुआ। तो यह है वात्सल्य अगकी बात। सम्यग्दृष्टि पुरुषको धर्मसे और धर्मात्माओंसे वात्सल्य होता है।

(३५) सम्यग्दृष्टिका धर्मप्रभावनापूरित सम्यक्त्वाचरण—सम्यग्दृष्टि जीवका धर्मप्रभावनापूरित सम्यक्त्वाचरण होता है। स्वयं व्रत, तप, शुद्ध आचरण करके अपनेमे धर्मकी प्रभावना और लोगोमे धर्मकी प्रभावना करते हैं। और यथासमय जिन पूजा विधान कल्याणक महोत्सव आदिक समारोहोमे प्रभावना करते हैं। वास्तविक धर्मप्रभावना तो अज्ञान हटाकर ज्ञानप्रचार करनेमे है। जैसे कि समन्तभद्राचार्यने कहा है—'अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथ, जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश स्यात् प्रभावना।" अज्ञानरूपी अंधकारको हटाकर जैनशासनके माहात्म्यका प्रभाव करना सो प्रभावना है। ऊपरी प्रभावनासे तो केवल दो-एक दिन ही लोग कुछ कहेंगे कि बडा खर्च किया, बडे धनी है। जिसका कि असर बुरा भी हो सकता, पर ज्ञानकी प्रभावना बने, ज्ञानविशेष पब्लिकको मिले तो उसमे जो अन्दर बात समायी होगी वह स्थिर रहेगी, इस कारणसे ज्ञानकी प्रभावना ही सच्ची ज्ञानप्रभावना है। इस अगके विषयमे एक उदाहरण बज्रकुमार मुनिका है, जो दो रानियोके बीच एक विवाद

खडा हो गया कि रथ, बौद्धका पहिले निकले या जैनका तो जैनका रथ पहले निकलता था प्रति वर्ष पर एक रानीके अनुरोधसे बौद्धका रथ पहले चलनेका निर्णय सा हो रहा था, उस समय जैन रानीने इस सबधमे बहुत चिन्ता की और आखिर यह समाचार वज्रकुमार मुनि के पास पहुचा और वह बहुत विद्याधरोके मित्र थे तो विद्याधरोकी सेनाको सहायतासे स्वय ही राजाके भाव बदले और जैनरथ पहले चलाया। एक प्रभावना हुई। यह भी एक लौकिक बात है। वास्तविक प्रभावना तो ज्ञानकी प्रभावनासे है, पर इस लौकिक प्रभावना के साथ ज्ञानप्रभावनाका भी अवसर हुआ करता है। सम्यग्दृष्टि पुरुष ज्ञानप्रभावनापूर्ण सम्यक्त्वाचरण करता है। इस तरह ८ अगोके रूपमे सम्यग्दृष्टिका अतरग व बहिरग ऐसा आचरण होता है कि जिससे स्वपरका कल्याण हो।

त चेव गुणविसुद्ध जिग सम्मत्त मुमुक्खठाणाय।
ज चरइ णाणजुत्त पढम सम्मत्तचरणचारित्त ॥ ८ ॥

(३६) सम्यक्त्वाचरणचारित्रका परिचय—चारित्रके भेषका विस्तार बताते हुए यह बात कही गई थी कि चारित्र मूलमे दो प्रकारका है—(१) सम्यक्त्वाचरण और (२) सयमाचरण। सर्वप्रथम सम्यक्त्वाचरण होता है। कभी किसी विरले जीवके सयमाचरण और सम्यक्त्वाचरण एक साथ भी सभव है। जैसे किसी मिथ्यादृष्टि जीवको एकदम ही सप्तम गुणस्थानका लाभ हो तो वहाँ एक सम्यक्त्व बनता और संयम बना, ये दोनो ही बातें एक साथ हुई, ऐसे भी जीव होते हैं, पर बहुतायतका क्रम यह है कि सम्यग्दर्शन होता है, पश्चात् सयम रूप प्रवृत्ति करता है। तो प्रथम जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र है उसका स्वरूप इस गाथामे कहा जा रहा है, फिर भी दृढताके लिए वह जिनेन्द्रदेवके शासनमे कहा हुआ सम्यक्त्व जिनदेवकी श्रद्धासे विशुद्ध है, नि.शकित आदिक गुणोसे विशुद्ध है। उनके यथार्थ ज्ञान सहित जो आचरण होता है सो सम्यक्त्वाचरण चारित्र है। यह मोक्षस्थानके लिए हुआ करता है। मोक्ष कहलाता है अपने कैवल्यस्वरूपका विकास। यह विकास तब ही सम्भव है जब कि केवल सत्त्वसे अपने आपके स्वरूपका निर्णय हो। तो सर्वज्ञभाषित तत्त्वार्थ श्रद्धानसे जिसका आचरण विशुद्ध है, नि शकता आदिक गुणोसे विशुद्ध है, जहाँ सम्यक्त्वके २५ दोष नही है, ऐसी ज्ञानीकी जो वृत्ति होती है उसे सम्यक्त्वाचरण कहते हैं। सम्यक्त्वा-चरण मुक्ति लाभका पहला कदम है। इसी कारण मोक्षमार्गमे सम्यग्दर्शनको पहले बनाया है, यह सम्यग्दर्शन मोक्ष महलकी प्रथम सीढी है, ऐसे सम्यक्त्वाचरणको अगीकार करके सयमाचरण चारित्रको अंगीकार करके सयमाचरण चारित्रको प्राप्त होता है उसका शीघ्र निर्वाण होता है ऐसा अब अगली गाथामे कहते है।

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा ।
णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥ ६ ॥

(३७) सम्यक्त्वाचरण चारित्रकी महिमा—जो ज्ञानी पुरुष सम्यक्त्वाचरणसे शुद्ध हुए है और सयमाचरण चारित्रसे भले प्रकार सिद्ध होते हैं ऐसे ज्ञानी निर्मोह दृष्टि वाले पुरुष यथाशीघ्र निर्वाणको प्राप्त करते हैं। पहले तो पदार्थका यथार्थ ज्ञान होना चाहिए, जिसमे मोह न हो, विशुद्ध सम्यग्दृष्टि हो, फिर सम्यक्चारित्ररूप संयमका आचरण करे वह मोक्षको प्राप्त होता है। सम्यक्त्वाचरणसे तो मार्गदर्शन हुआ और उस मार्गकी ओर अभिमुखता हुई, बस सयमाचरण चारित्र होनेसे एकाग्र धर्मध्यानका अतिशय बनता है। धर्मध्यानकी पूर्णता इस सप्तम गुणस्थानमे बनती है। वहाँ एकाग्र ध्यान होता है, उसके बलसे सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान बनता है। अप्रमत्तविरत इस प्रकारका है स्वस्थान और सातिशय। स्वस्थान अप्रमत्त विरत ७वें गुणस्थानसे आगे नही बढ पाता, छठवेंमे आना और छठवें ७वेंका थोडा ही काल है सो झूलेकी तरह छठे ७वें मे मुनिके परिणाम चलते रहते हैं। किसी समय सातिशय धर्मध्यान जगे तो सातिशय अप्रमत्तविरत गुणस्थान बनता है। तो गुणस्थानमे चारित्रमोहका विध्वस करनेके लिए अधःकरण परिणाम होता है। क्षपक श्रेणीपर चढने वाले जीवके अधःकरण सातिशय अप्रमत्त विरतमे हुआ, फिर अपूर्वकरण ८वाँ गुणस्थान हुआ जिसमे परिणामो की विशुद्धि अनन्तगुणी बढती जाती है। पूर्व बाँधी हुई स्थितिका वध होता है। अनुभाग भी बहुत नष्ट होता है, असख्यात गुणी प्रदेश निर्जरा होती है। और अनेक पाप प्रकृतियाँ पुण्यरूप हो जाया करती हैं। अपूर्वकरणके बाद अनवृत्तिकरण गुणस्थान होता है। वहाँ बहुत विशुद्ध परिणाम होनेके कारण चारित्रमोहकी २० प्रकृतियोका विध्वस हो जाता है। अब तक यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण आदिक ये ८ प्रकृतिया उदयमे नही चल रही थी, पर सत्तामे मौजूद थी, और सज्वलनकी तीन प्रकृतिया उदयमे भी चल रही थी। क्षपकश्रेणीमे चढने वाले जीवके अनन्तानुबधीकी सत्ता ही नही। यो अप्रत्याख्यानावरण आदिक ८ प्रकृतियाँ सत्तामे हैं और हास्यादिक ९ प्रकृतियाँ भी सत्तामे है और सज्वलन क्रोध, मान, माया, ये इस तरह २० प्रकृतियाँ क्षीण हो जाती है। तो यह सब एक सयमाचरणके अतिशयका प्रभाव है, फिर अन्तर्मुहूर्तमे ही केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। १०वें और १२वें गुणस्थानमे क्षयके बाद वहाँ अरहत अवस्था मिलती है और अरहत अवस्थामे यह जीव अपनी आयु प्रमाण रहता है। केवल सूक्ष्म अन्तर्मुहूर्त जब बाकी होता है १४वाँ गुणस्थान होकर अघातिया कर्मोंसे दूर होकर मोक्षपद प्राप्त करता है। तो मूलमे यह सब सम्यक्त्वाचरण चारित्रका माहात्म्य है। जब कि बलसे बढ-बढ़कर सयमाचरण प्राप्त

हुआ और उत्तरोत्तर ध्यानकी विशेषता होती गई और परमात्मपद प्राप्त किया। सम्यक्त्वसे जो भ्रष्ट है वे सयमका भी आचरण करें तब भी मोक्ष न प्राप्त कर सकेंगे। इस तरह सम्यक्त्वाचरणकी यहाँ प्रधानता बताई गई है।

सम्मत्तचरण भट्ठा सजमचरणं चरति जे वि ण रा।
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावति णिव्वाण ॥ १० ॥

(३८) **सम्यक्त्वाचरणसे भ्रष्ट जीवोंकी निर्वाणप्राप्तिकी अयोग्यता**—जो पुरुष सम्यक्त्वाचरणसे भ्रष्ट है वे संयमाचरण भी करें तो भी वे अज्ञानी है, मूढदृष्टि है और वे निर्वाण को प्राप्त नही हो सकते। जैसे कोई पुरुष इष्ट ग्रामको जाना चाहता है तो उसे पहले मार्ग का श्रद्धान होना चाहिए कि यह रास्ता गया है और उस मार्गका कुछ परिचय भी होना चाहिए। तो परिचय होना और उस मार्गकी ओर अपना चित्त अभिमुख होना, उसकी ओर जानेकी तैयारीका पूर्ण इरादा हो जाना यह तो एक सम्यक्त्वाचरणकी तरह है और फिर मार्गपर चल देना यह सयमाचरणकी तरह है। चलते-चलते वह इष्ट स्थानपर पहुच जाता है, ऐसे ही संयमाचरणसे चलते-चलते, आत्माका विकास करते करते परमात्मपद तक पहुच जाता है। तो मूल सम्यक्त्वाचरण रहा जिसको रास्तेका श्रद्धान नही, ज्ञान नही वह रास्ता चल ही कैसे सकेगा? तो इसी तरह जिसको सम्यक्त्वाचरण नही वह सयमाचरण नही कर सकता और कदाचित् देखादेखी बाह्य संयमाचरण करे तो कही मन, वचन, कायकी चेष्टाओ से कर्मकी निर्जरा नही होती। कर्मकी निर्जरा होती है आत्मस्वरूपके श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे। तो सम्यक्त्वाचरण सहित सयम चारित्र ही निर्वाणका कारण है अतएव सम्यक्त्व प्रधान है। सम्यक्त्वके होनेपर ही ज्ञान ही सम्यक् कहलाता है और चारित्र भी सम्यक् कहलाता है। सम्यक्त्वके बिना चारित्रमे भी मिथ्यापन कहलाता है। ऐसे परम उपकारी सम्यक्त्वाचरणकी वृत्ति होना यह ज्ञानियोका प्रथम कर्तव्य है।

वच्छल्य विणएण य अणुकपाए सुदाणदच्छाए।
मग्गगुणसंसणाए अवगूहणरक्खणाए य ॥ ११ ॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं।
जीवो आराहतो जिणसम्मत्त अमोहेण ॥ १२ ॥

(३९) **सम्यग्दृष्टिका परिचय कराने वाले चिह्नोंका वर्णन**--जिन जीवोको वीतराग देवकी श्रद्धा है और उसके अनुसार जिसको सम्यक्त्वकी आराधना है सो ऐसे मिथ्यात्वरहित सम्यग्दृष्टि जीव कैसे लक्षण वाले है, किन चिन्होसे यह समझाया जाय कि ये सम्यग्दृष्टि जीव हैं, उसका कुछ वर्णन किया जा रहा है। यद्यपि सम्यक्त्वकी साक्षात् सही पहिचान होना छद्म-

स्थोंको कठिन है या जिसके परमावधि ज्ञान है, सर्वावधि ज्ञान है, वह अनुमानतः सही ज्ञान कर लेता है। जैसे सम्यक्त्वघातक ७ प्रकृतिया नही है तो यह- बात अवधिज्ञानमे झलक जाती है। मगर परमावधि सर्वावधि ज्ञानमे ही झलकता है देशावधि ज्ञानमे नही। तो उन ७ प्रकृतियोके अभावको समझकर उनके सम्यक्त्व है, यह ज्ञान होता है वे भी सम्यक्त्वका सीधा ज्ञान नही कर पाते। जैसे धुवा देखकर कोई अग्निका ज्ञान करे तो कोई अग्निका साक्षात् ज्ञान नही किया, किन्तु साधनसे साध्यका अनुमान किया। ऐसे ही विशिष्ट अवधि-ज्ञानी जीव ७ प्रकृतियोके उपशम क्षय क्षयोपशम जैसी दशा देखकर अनुमान करता है कि हाँ सम्यक्त्व है बाकी और जीव जो छद्मस्थ है, चिह्नोसे पहिचान तो गए हैं, पर वहा पूरा नियमरूप पहिचान नही हो पायी, क्योकि छली कपटी भी इस पहिचानको अपनी प्रवृत्तिमे ला सकते हैं, मगर उसमे भी यदि सूक्ष्मतासे अगर निरख बनायी जाय तो यह समझमे आता है कि यह वास्तविक बात है और यहा कृत्रिम बात है तो वे लक्षण कौन-कौन हैं, उनका वर्णन इसमे है।

(४०) **सम्यग्दृष्टिका परिचायक चिन्ह वात्सल्य, विनयभाव और अनुकपा**—सम्य-ग्दृष्टिकी पहली पहिचान है वात्सल्यभाव। यदि वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है तो उसका धर्मात्माके प्रति वात्सल्य अवश्य होगा। जिसे धर्मात्माके प्रति वात्सल्य नही हैं वह चाहे ज्ञानकी कितनी ही बातें करे। लेकिन वहाँ सम्यक्त्व नही है। सम्यक्त्वका और अवात्सल्यका विरोध है। जैसे तत्कालकी प्रसूत गाय बछडेसे प्रीति करती है उस गायको बछडेसे क्या मतलब उससे कोई गायका पेट नही भरता, गायको कोई आराम नही मिलता मगर गायको निष्क-पट अपने बछडेसे प्रीति होती है ऐसे ही धर्मात्मा पुरुषोंसे निष्कपट प्रीति हो तो यह वात्सल्य चिन्ह है। तो इस वात्सल्यको देख करके सम्यग्दृष्टिपनेका परिचय मिलता है। दूसरा लक्षण है विनय जो सम्यक्त्वादिक गुणोसे सहित है उसके नम्र परिणाम होते हैं। जो भी गुणोसे अधिक हो, गुणी पुरुष हो उसका विनय सत्कार सम्यग्दृष्टि पुरुष करता है। तो गुणियोका साधुवोका, वृत्तियोका, ज्ञानियोका सत्कार जो हृदयसे करता है उससे यह परिचय होता कि इसके चित्तमे धर्मवासना है और यह ज्ञानी पुरुष है। तीसरा लक्षण है अनुकपा। दु खी पुरुषोको देखकर करुणाभावरूप अनुकपा जीवमे है वह अनुकपा कैसे समझी जाय ? तो उस पुरुषमें जो सामर्थ्य है उस सामर्थ्यसे दानमे दक्ष होता है। दुखियोको देखकर कोई मुखसे जीभ हिलाकर पछतावा करे और समर्थ होकर भी उसके लिए कुछ खर्च न कर सके तो वहाँ दया कहाँ कहलायी ? जिसमे जो सामर्थ्य है वह अपनी सामर्थ्यके अनुसार तन, मन, धन, वचनसे सेवा करता है और उससे पहिचान होती है कि इसके दयाभाव है और जिस

को दु खी प्राणियोको देखकर दयाभाव उमडे उससे अनुमान होता है कि इसकी दृष्टि सही है, यह ज्ञानी पुरुष है ।

(४१) **सम्यग्दृष्टिका परिचायक चिह्न मार्ग गुणप्रशंसा, उपगूहन व स्थितिकरण**—चौथा लक्षण है कि मोक्षमार्गकी प्रशंसा करने वाला हो, सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जीवके जो भी वचन निकलते है वे मोक्षमार्ग, आत्मतत्त्व, परमात्मस्वरूप, सयमाचरण आदिक मोक्षमार्गकी प्रशसा करने वाले ही शब्द निकलते है । जो मोक्षमार्गकी प्रशसा न करता हो तो समझिये कि उस को मोक्षमार्गकी श्रद्धा दृढ नही है । जिसको मोक्षमार्गकी श्रद्धा दृढ है वह उसके गुण गाता है, लोगोको भी बताता है कि ससारके सकटोसे छूटना है तो इस मोक्षमार्गको ग्रहण करो । इसके बिना जन्म मरणके सकट छूट नही सकते । ५ वाँ चिन्ह है सम्यग्दृष्टि जीवका कि उसमे उपगूहनभाव रहे । उपगूहन कहते है कर्मोदयवश किसी धर्मात्मा पुरुषके कोई दोष लगे तो उस दोषको जनतामे सूचित न करना और धर्मकी अवज्ञा न होने देना यह उपगूहन अग है । ज्ञानी विवेकी पुरुषोकी क्रियायें अलौकिक होती है, उनका भाव उदार होता है । वे कषायके वशीभूत नही होते इस कारण उनका चारित्र ऊँचा ही होता है । तो उपगूहनकी वृत्ति देखकर सम्यक्त्वका परिचय होता है कि इसके सम्यक्त्व है । यह ज्ञानी है । छठा चिन्ह है स्थितिकरण । कोई धर्मात्मा पुरुष मार्गसे चिग जाय तो उसको धर्ममार्गमे स्थित करनेका प्रयास करना स्थितिकरण है । ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अपने आपके धर्मस्वभावमे स्थित रहना चाहता है और ऐसा ही दूसरे धर्मात्मा पुरुषोके प्रति चाहता है । कदाचित स्वय धर्मसे चिग जाय तो ऐसी भावना रखेगा कि जिससे फिर धर्ममे स्थिरता हो । दूसरा भी अगर धर्मसे चिगे तो उसका कारण जानेगा कि कौनसा कारण है कि जो इसका भाव कुछ शिथिल हुआ है । उन कारणो को दूर कराता हुआ और वचनोसे सही धर्मकी याद दिलाता हुआ दूसरोको धर्ममे स्थिर करता है । ये सब चिन्ह सम्यग्दृष्टिके परिचयके बताये जा रहे हैं, ऐसे और भी चिन्ह हो सकते है ।

(४२) **सम्यग्दृष्टिके लक्षणोंकी यथार्थताका मूल आर्जवभाव**—यह चिन्ह सही है, इसका साधन आर्जवभाव है । कोई पुरुष अगर निष्कपट है और ये चिन्ह पाये जाते है तो उसका परिचय होता है । और निष्कपट पुरुषके ही वास्तविक ये चिन्ह होते है । तो जो निष्कपट हैं उनके इन लक्षणोके द्वारा सम्यक्त्वका परिचय होता है । सो ऐसे जीव मोहरहित होकर इस सम्यक्त्वकी आराधना करते है । सम्यक्त्वकी आराधनाका अर्थ है कि अपने अविकारस्वरूप चैतन्यस्वभावको अपना सर्वस्व मानता है और उस ही मे रत होकर तृप्त रहना

चाहता है, सो ऐसा जीव सम्यक्त्वकी आराधना करता है । सम्यक्त्वभाव मिथ्यात्वकर्मके भाव से प्रकट होता है । सो यह सम्यक्त्वभाव सूक्ष्म भाव है, छद्मस्थके ज्ञानगोचर नही है । जो सम्यक्त्वाकारमे साक्षात् जान सके, पर सम्यग्दृष्टिके ये बाह्य चिन्ह है जिनसे सम्यग्दृष्टिका परिचय होता है, और परिचयका एक कारण यह भी है कि एक सम्यग्दृष्टिके यह भाव जगे तो ऐसा ही भाव जब दूसरेमे दिखता है तो सम्यक्त्वका परिचय हो जाता है । जैसे किसीने कोई वस्तु खाना हो और उसका स्वाद वह भली प्रकार जानता हो तो दूसरेके लिए भी अनुमान बनता है कि इसको इसका ऐसा ऐसा ही स्वाद आता है । ज्ञानी पुरुषने स्वय अविकार चैतन्य स्वरूपका अनुभव किया है, उसका अलौकिक आनन्द पाया है तो दूसरे सम्यग्दृष्टि जीवमे भी इस धर्मविकासका अनुमान बन जाता है । अज्ञानी पुरुष ज्ञानीके भावोका परिचय नही पा सकता । ज्ञानी पुरुष ज्ञानभावका परिचय पाता है, क्योकि जिसके भी ज्ञान जगता है उसके सम्यक्त्वघातक प्रकृतियां दूर होती है, उन सबके एक ही समान स्वच्छताका आगम उदित होता है । ऐसे स्वच्छ अभिप्राय वाले ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वाचरण करते है और उसके प्रतापसे, उसके अभ्याससे वे सयमाचरणमे प्रवेश करते हैं ।

उच्छाहभावणास पसससेवा कुदंसणे सद्धा ।
आण्णाणमोहमग्गे कुव्वतो जहदि जिणसम्म ॥ १३ ॥

(४२) नित्यत्व व क्षणिकत्वके एकान्तरूप कुदर्शनकी श्रद्धासे सम्यक्त्वच्युति—जो पुरुष अज्ञान, कुदर्शन व मोहके मार्गमे श्रद्धा प्रशसा सेवा करता है वह जिनदर्शनके श्रद्धारूप सम्यक्त्वको छोड देता है । कैसा है वह अज्ञान, मोहमार्ग, कुदर्शन कि जहाँ वस्तुके किसी एक धर्मका, तत्त्वका एकान्त है, पक्षपात है, जिसके कारण निर्विकल्प अनुभवकी पात्रता नही बनती । जैसे कोई मानता है कि जीव सदा कूटस्थ अपरिणामी है । यद्यपि इसमे आत्माके सहज ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे बात यथार्थ बनती है, लेकिन यह दृष्टि तो उनके नही है । पर्याय माननेपर फिर यह दृष्टि बनाये तो वह यथार्थ दृष्टि है । परिणमन होता ही नही, पर्याय है ही नही, ऐसा एकान्त निषेध करके फिर अपरिणामी ध्रुव ब्रह्मस्वरूप मानना यह एकान्त है जब कि जैनदशन द्रव्यपर्यायात्मक आत्माको समझकर पर्यायको गौण कर द्रव्यको मुख्य दृष्टिमे रखकर इस प्रकार मानता है । तो स्याद्वादकी कलाके बिना किसी भी प्रकार वस्तुके पूर्ण स्वरूप तक नही पहुच सकता है । कोई पुरुष मानते हैं कि जीव क्षण-क्षणमे नया-नया बनता है, वे जीवका एकपना स्वीकार ही नही करते । और ऐसी मान्यता बनाकर फायदा उठाना तो चाहते हैं और फायदा उठाना चाहते हैं यह कि जब यह ध्यानमे आ जाय कि मैं जीव एक क्षणको आया और फिर नष्ट हो गया, यहाँ रहता ही नही, तो जैसे कोई पुरुष

एकदम मरने वाला हो तो उसको घर-बारमे ममता नही रहती । वह जान रहा कि मैं तो मर ही रहा हू, क्या ममता करनी ? तो ऐसे ही जो एक क्षणको अपनी सत्ता मानता है, अगले क्षण है ही नही तो फिर वह मोह ही क्यो करेगा ? ऐसा उपाय निकाला गया है । लेकिन वस्तुस्वरूपके विरुद्ध कोई उपाय निकाला भी जाय तो उससे तत्त्वकी उपलब्धि नही होती । जैनदर्शनने पर्यायदृष्टिसे क्षण-क्षणमे नई नई अवस्थायें होना माना है सो उस नई नई अवस्थाको सुनकर यह उत्साह जगना चाहिए कि मेरा यद्यपि अज्ञान परिणमन अनादिसे चला आ रहा है, लेकिन यह परिणमन है, अवस्था है, यह मिटकर नई अवस्था बन सकती है, याने अज्ञानदशासे हटकर ज्ञानदशा प्रकट हो सकती है, यहा तो क्षणिकपनेकी बात सोचकर उमग आना चाहिए, पर यह उमग आयगी उसे जो अपनेको सदा रहने वाला नित्य मानेगा । तो वस्तुस्वरूपके खिलाफ कुछसे कुछ भी धर्म माना जाय, उनके सहारेसे हम तत्त्व की उपलब्धि नही कर सकते ।

(४४) **प्रभुमे विकृत कृत्यका अभाव**—कोई लोग मानते है कि इस जीवको किसी ईश्वरने उत्पन्न किया, तो ईश्वरने उत्पन्न किया, प्रथम तो यह ही बात सही नही है, क्योकि ईश्वरका स्वरूप पवित्र है, वह समस्त लोकालोकका जाननहार है, परिपूर्ण सहज आनन्दरस मे लीन है । वह अपनी पवित्रताका त्यागकर अपवित्रताको अगीकार नही करता, फिर यह बतलावो कि जीवको पैदा करके कुछ ईश्वरको फायदा होता है या जीवको फायदा होता है ? ईश्वरको तो पैदा करनेसे कुछ फायदा होता नही । और जीव पैदा हुए तो पैदा होकर ये कौनसा लाभ ले लेते हैं ? न पैदा होते, कुछ न होते तो झगडा ही कुछ न था । ईश्वरने जीवको पैदा किया तो इससे फायदा क्या ? यदि कहा जाय कि ईश्वरको ऐसा खेल रुचा है तो बालककी नाईं, अज्ञानियोकी नाईं ऐसा खेल करे तो उसका बडप्पन नही है यहा तो खेल हो और जीव दुर्दशा पावें । कोई जीव मर रहा है, कोई दुःखी होता है, कोई कैसा ही कर रहा है ? न करते पैदा तो क्या हर्ज था ? तो कही ऐसा नही है कि किसीने इस जीवको पैदा किया हो । तत्त्व यह है कि जो भी है वह अनादिसे है, नही है तो उसका "है" नही हो सकता और जो है उसका 'न' नही हो सकता । है, सब अनादिसे है, उनकी अवस्थायें बदलती रहती है । कभी किसी अवस्थामे आया कभी किसी अवस्थामे आया ।

(४५) **दृष्टिमार्गसे ईश्वरकर्तृत्व**—प्रश्न—तो फिर यह बात प्रसिद्ध कैसे हो गई कि इस जगतके जीवोको ईश्वरने उत्पन्न किया । बिल्कुल झूठ बात कभी भी प्रसिद्ध नही हो पाती, न लोगोमे आदर पाती, तो कुछ बात तो होगी ही जिससे कि यह बात प्रसिद्ध हुई कि ईश्वरने जीवको बनाया । उत्तर—हां तो क्या बात है सो सुनो—प्रथम तो यह जानें कि

ईश्वर है ज्ञानानन्द पुञ्ज और जितने भी ये जीव हैं ये सभी जीव है ज्ञानानन्द पुञ्ज। सो जब स्वरूपकी दृष्टिसे देखा जाय तो सभी जीव ईश्वरके स्वरूपको धारण किए हुए हैं। तो इस तरह स्वभावदृष्टिसे तो अनन्त ईश्वर हुए। जितने भी जीव हैं वे सभी स्वय ईश्वर हैं। मगर ये ससारके ईश्वर अपने विकल्प बनाकर पैदा होते और मरते है। जैसे कि वेदान्तमे भी कहते है कि इस ब्रह्मने ऐसा भाव किया कि 'एकोह बहु स्याम्'——मैं एक हू, बहुत बन जऊँ, उसने तो भाव ही किया ऐसा वे बताते है मगर इस जीवने इसे प्रैक्टिकल किया कि यह जीव तो है एक अपनी सत्तामात्र, मगर यह अपने एकपनेको स्वीकार नही करता, और जो अवस्थायें बनती है उन बहुत अवस्थाओंरूप अपनेको मानता रहता है यो नानारूप अपनेको बनाता रहता है। मैं मनुष्य हू, पशु हूँ, पक्षी हू आदिक नानारूप अपनेको मानता रहता है। तो एक होनेपर भी इसने अपनी बहुरूपता धारण की। तो सभी जीव स्वरूपदृष्टिसे ईश्वरके रूप है, और यह ही जीव स्वय अपने विकल्प और व्यापार करके अपनी सृष्टि किया करता है। तो प्रत्येक जीवकी सृष्टि निश्चयतः उस ही जीवने की, मगर वह जीव स्वरूपदृष्टिसे ईश्वर है, इसलिए जीवने सृष्टि की, ऐसा कह लो या ईश्वरने सृष्टि की ऐसा कह लो, दोनोका एक ही अर्थ है। अब ये समस्त जीव है अनन्त, तो प्रत्येक जीवमे ऐश्वर्य भी मौजूद है, अत. ईश्वर भी अनन्त, मगर इन सब जीवोका स्वरूप एक समान है। एकके स्वरूपसे दूसरेके स्वरूपमे रच भी फर्क नही है। तो स्वरूपदृष्टि होनेसे इसको अनन्त व्यक्तियोमे न देखकर एक रूपमे देखें। जैसे बाजारमे गेहूका ढेर लगा होता है तो खरीदने वाले यो नही कहते कि तुम इन गेहुओको किस भावमे दोगे ? वे बहुवचन लगाकर नही बोलते, किन्तु यह कहते हैं कि यह गेहू किस भावमे दिया है ? उनका स्वरूप बिलकुल एक समान है, इसलिए वे एक ही कहलाते हैं। तो ऐसे ही ये अनन्त ईश्वर स्वरूपदृष्टिसे पूर्णतया एक समान हैं, इसलिए एक ईश्वर कह लीजिए और इस तरह यहापर आया कि एक ईश्वर ये सारी सृष्टियां रचता है। अब स्याद्वाद कलासे निरखा जाय तो सब समस्यावोका समाधान मिलता है और एकान्तदृष्टिसे देखा जाय तो तत्त्वकी उपलब्धि की ही नही जा सकती है। तो ऐसे अनेक प्रकारके सिद्धान्त गढे गए हैं, उनमे जिनकी श्रद्धा है वे पुरुष तत्त्वकी उपलब्धि नही कर सकते।

(४६) अशुभोपयोग रोगका तत्काल इलाजरूप शुभोपयोगके वातावरणके एकान्तके आग्रहमे सम्यक्त्वच्युति——कोई पुरुष कहा करते हैं कि यज्ञ करो, यह क्रिया करो, यह अनुष्ठान करो, इससे मुक्ति मिल जायगी, मगर क्रिया, देहकी क्रिया, चाहे द्रव्य चढाया हो चाहे तीर्थोपर यात्रा करने गया हो, कोई भी चेष्टा की गई हो तो वे तो अचेतन देहकी क्रियायें है। वही देहकी क्रियासे आत्माके भाव विशुद्ध हो सकते हैं क्या ? अगर उसीका ही एकान्त

कर रखा हो तो। तत्त्व तो वहा भी है कि जो जीव किसी विषय कषाय पापके सस्कारमे लगा है और नाना खोटी मन, वचन, कायकी चेष्टायें कर रहा है उसका सीधा इलाज क्या है जिससे तुरन्त कुछ फर्क पडे, तो उसका सीधा इलाज यह ही है वदना, पूजा, यात्रा, दान आदिक, सो एक वह तत्कालका इलाज है, अगर उसीको ही मोक्ष माना जाय तो यह तो तत्त्वके विरुद्ध बात है। मुक्ति मिलती है केवल आत्मस्वभावकी दृष्टिसे, पर वह दृष्टि बन जाय और बनी रहे, स्थिर हो जाय। उसके लिए पापके सस्कार वाले जीवका कुछ व्यवहार वातावरण भी बना हुआ है। तो वह एक वातावरण है व्रत, तप, सयम आदिकका कि जिस वातावरणमे रहकर यह जीव अपने ज्ञानस्वरूपमे सुगमतया प्रवेश कर सकता है।

(४७) **शून्याद्वैतके एकान्तके आग्रहमे सम्यक्त्वच्युति**—कुछ लोग कहा करते कि शून्य ही तत्त्व है, क्योकि जो दिख रहा है वह ऐसा ही है, यह बात नही घटित होती। कभी कुछ बनता, कभी कुछ बनता। यह विचित्रता यह सिद्ध करती है कि यह सब काल्पनिक है, माया है और तत्त्वशून्य ही है, कुछ नही बस यह ही तत्त्व है, जिसकी श्रद्धासे कल्याण होता है। अगर इसीका एकान्त कर लिया तो कल्याण किसे करना, वह भी शून्य है। बात क्यो कहना, कौन कहे, सब शून्य है। मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति क्यो हो, क्योकि सब शून्य है, प्रमाण भी नही है। तो जो कुछ कहा वह कैसे सिद्ध हो कि सही है। तो सर्वथा शून्यवादकी बात घटित नही होती, मगर उसे भी शून्यवाद समझा किसीने, तो जब आत्माके स्वरूपको देखो तो देखनेकी दो रीतियाँ है। विधिरूपसे भी देख लो, निषेधरूपसे भी देख लो। निषेधरूपसे देखनेपर यह सब ज्ञान होता कि यहाँ कर्म नही, शरीर नही, विकल्प नही विचार नही, तरग नही, कुछ नही है। यह आत्मा तो इन सबसे सूना है, रीता है। तो निषेध दृष्टिसे देखनेपर यह आत्मा शून्य नजर आया। और, वहाँ फिर यह प्रसिद्ध किया गया कि बस शून्य ही तत्त्व है। शून्य तो तत्त्व हुआ निषेध दृष्टिसे, मगर कुछ चीज हो जिसमे शून्यपना घटित किया जाय। वह है ज्ञानानन्दरसनिर्भर अमूर्त चैतन्य पदार्थ, सो इसको तो कोई समझे नही और केवल शून्यका ही पक्ष पकड़ लिए फिरे तो उसे तत्त्वकी उपलब्धि नही है। ऐसे अनेक कुदर्शन हैं जिनमे श्रद्धा रखे, उत्साह रखे तो वह पुरुष सम्यक्त्वसे च्युत हो जाता है, अथवा उसके सम्यक्त्व ही नही है।

(४८) **दुर्लभ नरजन्म पाकर आत्मोपलब्धिके विचारसे रहित जीवोके जीवनकी निरर्थकता**—इस जीवको अनादि कालसे मिथ्यात्व कर्मके उदयके निमित्तसे ससारमे भ्रमण करना पड रहा है, यह चतुर्गतिमे भ्रमण करता है, देव हुआ, नारकी हुआ, तिर्यञ्च हुआ, पशु हुआ मनुष्य बना, यह सब मिथ्यात्वके उदयमे जीवकी उल्टी कल्पनाके कारण हो रहा। अनादि

काल तो इसका निगोदमे बीता, वहां से बडी कठिनतासे निकला तो अन्य स्थावर बना, वहां से निकला तो दोइन्द्रिय, क्रमसे निकल निकलकर तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय, असज्ञी पञ्चेन्द्रिय सज्ञी पचेन्द्रिय और उसमे भी नरक तिर्यञ्च देवसे निकलकर मनुष्य हुए हैं तो ऐसा श्रेष्ठ मनुष्यजन्म पाया जिसके लिए इन्द्र भी तरसता है। तो ऐसा दुर्लभ नरजन्म पाकर उल्टी श्रद्धा रखकर इस जीवनको खो दे तो यह उसके लिए बडी दरिद्रता है, अत. विवेक करके निष्पक्ष होकर अपने आपके तत्त्वके बारेमे परिचय बनाना ही चाहिए। तो जो पुरुष अपना परिचय तो करते नही और खोटे दर्शनकी प्रशसा सेवा उत्साह भावना आदिक बना रहे हैं वे अपने आपको अज्ञान और मोहके रास्तेपर चला रहे हैं और जिन सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हैं।

उच्छाहभावणासं पससमेवा सुदंसणे सद्धा।
ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥१४॥

(४९) **सुदर्शनकी प्रशंसा सेवा श्रद्धासे जिनसम्यक्त्वका पोषण**—इस गाथामे कहते हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप जो समीचीन मार्ग है उसमे जो उत्साह रखते है, शुद्धभावना करते हैं वे रत्नत्रयको ग्रहण करनेका उत्साह करते हैं प्रशसा करते हैं। इस ही शुद्ध भावके द्वारा करते हैं। ऐसे पुरुष ज्ञानमार्गसे अपने आपको ले जाते हुए जिन सम्यक्त्वको छोडते नही हैं। सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्माके सहज अविकार स्वरूपका आत्मारूप से ग्रहण हो जाना कि मैं यह हू। सम्यग्ज्ञान-जो पदार्थ जिस तरह अवस्थित हैं उनको उसी प्रकार जानना, सम्यक्चारित्र—अपना निज सहज ज्ञानस्वरूप है उसकी जो सहज वृत्ति है अर्थात् मात्र जानना सो अपनी परिणति मात्र जाननरूप बनाया तो वह है सम्यक्चारित्र यह हितरूप है। उनकी प्रशसा करे, उनकी उपासना करे, रत्नत्रयके भावमे उत्साह रखे तो वह पुरुष ज्ञानमार्गमे चल रहा है और आत्माके सहज ज्ञानतत्त्वको प्राप्त कर लेता है। जिन जीवोके अपने आपके प्रति ज्ञानमात्र हू ऐसी भावना जगती है और अपनेको मात्र ज्ञानपुञ्जके रूपमें ही देखता है उस पुरुषका ज्ञान ज्ञानमे मग्न होनेसे उसके ज्ञानमे ज्ञान ही ज्ञेय होनेसे वह ज्ञानमार्गमे ही चलता हुआ रहता है। तो जो अपनेको ज्ञानमार्गसे चलाता है वह पुरुष सम्यक्त्वको नही तजता।

(५०) **जीवका परमवैभव शुद्धभाव**—जीवका वैभव है अपने आपके कैवल्यस्वरूप की श्रद्धा करना। इस श्रद्धामे सब झगडा समाप्त हो जाता है। मैं केवल हू, एक हू, अपने द्रव्य, क्षेत्र काल भावसे सत् हू, यह मैं अपनेमे ही अपना परिणमन करता रहता हू, इस मेरेमे किसी पदार्थका कोई दखल नही है। मेरा भी अपने ज्ञानस्वरूपसे बाहर किसी भी पदार्थमे कोई दखल नही है। मैं केवल अपने आपके स्वरूपको ही रचता रहता हू ऐसी अपने

आपके स्वरूपमे जो दृढ भावना रखता है वह है पवित्र और ऐसा पवित्र जीव ऋद्धिधारी बनता है, जिसकी आत्मा अन्तः ऐसी पवित्र है उसका देह भी उसका मलमूत्र भी उसके शरीरसे स्पर्श करके आयी हुई हवा भी लोगोके सकट दूर कर देती है। आत्मा जैसे भाव करता है वैसा ही उसको शरीर मिलता है। यह तो निमित्त नैमित्तिक भाव है ही और आत्माके भावोका ही फल है यह कि कोई एकेन्द्रिय बन गया कोई दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदिक बन गया, कोई कुछ बन गया। तो ऐसे अटपट अच्छे बुरे शरीरोका मिलना जीवके भावो पर भी तो निर्भर रहा। तो जहाँ इतना बड़ा परिवर्तन देखनेमे आता, ऐसे ऐसे विचित्र देह देखनेमे आते वह सब इस जीवके भावोके निमित्तसे ही होता है। तो ऐसा कोई मनुष्य निर्ग्रन्थ दिगम्बर आत्मधुनिया बनकर केवल आत्माका ही मनन करे तो उसके शरीरमे सुगध प्रकट हो जाती, रोगनाशन आदिक शक्ति प्रकट हो जाती, ऋद्धियाँ प्रकट होती तो इसमे आश्चर्य नही है।

(५१) शरीरकी सुस्थिति दुःस्थितिके निमित्त कारण पूर्वके भाव—शरीरकी सारी बात जो भी बनती है वह आत्माके भावका निमित्त पाकर बनती है। हाँ इतना अन्तर है कि आज जो शरीर मिला है सो पूर्व भवमे बांधे हुए कर्मोके उदयसे मिला है और वे पूर्वबद्ध कर्म उस समयके जीवके भावोके अनुसार बने थे। तो स्थूल रूपसे जो शरीर मिला है वह सब पहलेके किए गए भावोका फल है और सूक्ष्म रूपसे शरीरमे यदि अतिशय आ गया तो यह है वर्तमानके भावोका फल। जो ऋद्धियाँ उत्पन्न हुई हैं जिन मुनियोके वह वर्तमान भवमे जो सद्भाव बनाया उसका फल है और जिसको जो शरीर मिला है सो यह पहले बांधे हुए कर्मों के उदयका फल है। तो शरीरका मिलना, बिछुडना, शरीरोका कैसा ही होना यह सब उस शरीरमे रहने वाले आत्माके भावोका परिणाम है। सो जो रत्नत्रयकी भावनामे रहते है, अविकार निज ज्ञानस्वभावकी दृष्टि बनाये रहते है उनको सहज ही अवश होकर ऋद्धि सिद्धि लक्ष्मी प्राप्त होती है। विद्यायें सिद्ध होती है। तो उन विद्यावोको अटकी क्या थी कि किसी पुरुषके वश होवे। उसकी आज्ञामे रहे? नही अटकी, लेकिन जो मनुष्य शुद्ध स्वरूपकी भावना रखते है उनके निकट ये ऋद्धियाँ सिद्धियाँ पहुचनी ही पडती है। तो ऐसे सन्मार्गमे जो प्रशसा रखे, सेवा करे, श्रद्धा रखे, वह ज्ञानके सही मार्गसे चल रहा है और ऐसा पुरुष जिन सम्यक्त्व को छोडता नही है याने अपने अविकार सहज स्वरूपकी दृष्टिको त्यागता नही है, ऐसा यह ज्ञानी पुरुष जब सन्मार्गकी ओर चलता है तो यह अलौकिक लाभ पाता है और जब सन्मार्गसे विपरीत होकर खोटे साधुवोमे, खोटे देवोमे, खोटे भेषोमे अपनी रुचि बनाता है तो यह ससार मे रुलता है। ऐसा जानकर अपना सम्यक्त्वाचरण यथार्थ बनाना चाहिए कि जिसके प्रसाद

से संयमाचरण बने और कर्मोंका विनाश हो और हम अपनी पवित्रता प्राप्त कर सकें ।

अण्णाणं मिच्छत्त वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते ।
अह मोह सारंभ परिहर धम्मे अहिंसाए ॥ १५ ॥

(५२) ज्ञान द्वारा अज्ञानको नष्ट करनेका उपदेश—इस गाथामे अज्ञान, मिथ्यात्व और मिथ्याचारित्र इनके त्यागका उपदेश किया है । आचार्यदेव कहते है कि हे भव्य जीव तू ज्ञानसे तो अज्ञानका त्यागकर अर्थात् ज्ञानपरिणति बनाकर तू अज्ञानको नष्ट कर और शुद्ध सम्यक्त्व बनाकर मिथ्यात्वको नष्ट कर और अहिंसारूप वृत्ति करके तू आरभसहित मोहका त्याग कर । इस जीवको कष्ट देने वाले तीन कुभाव हैं—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र । यह जीव अपनी शान्तिके लिए बहुत बहुत प्रयत्न करता है, मगर करता है सब बाहर-बाहरमे । बाहरी पदार्थोंमे मै इसको यो बना दू, उसका यो बिगाड दूं, ऐसा बाहर बाहरमे अनेक प्रकारके विकल्प करके अपनेको प्रयत्न वाला मानता है कि मैं शान्तिका पुरुषार्थ करता हू, मगर शान्ति और अशान्ति ये दोनो कही बाहर नही हैं, किसी बाहरी पदार्थ से न शान्ति आती है और न अशान्ति आती है । जब अपना ज्ञान सही होता तो शान्ति हो जाती और जब अपना ज्ञान विपरीत बनता तो अशान्ति हो जाती । तो जिन्हे शान्ति चाहिए उनका यह कर्तव्य है कि अपने ज्ञानको सही बनावे । और ज्ञान सही नही बनता उसका कारण मिथ्यात्व तो है ही, मगर हठ आग्रह यह भी अशान्तिका कारण होता है ।

(५३) बहिस्तत्त्वके आग्रहमे शान्ति—अज्ञानसे यह जीव बाह्य पदार्थोंमे आग्रह किये जा रहा । अगर आत्मतत्त्वमे आग्रह किया जाय तो वह शान्तिका देने वाला है । पर बाह्य पदार्थोंमे जो हठ और आग्रह बनता है कि मैं तो ऐसा ही करके रहूँगा, यहा तो ऐसा ही होना चाहिए, इस आग्रहसे अशान्ति होती है, और ये हठ और आग्रह पर्यायबुद्धिमे हैं । देहको जाना कि यह मैं हू और दूसरेके देहको जाना कि ये दूसरे हैं, तब बुद्धि चूकि विपरीत हुई, चिदानन्दघन आत्माके स्वरूपमे विश्वास न रहा तो अब यह अटपट मन वाला बन गया और बाह्य पदार्थोंका आग्रह करने लगा उसमे अशान्ति है । विवेकी पुरुष वह है कि जो बात ज्ञान की मिले, जो शान्तिका मार्ग मिले उसपर नि.सकोच चलनेका प्रयत्न करे । इस अज्ञानी पुरुष ने अनादिसे लेकर अब तक परिग्रहमे मोह किया, परिग्रहमे, विषयोमे खूब मौज किया और इस एक भवमे उसने बहुत कुछ धन वैभव कमाया, बडी-बडी कोठिया बनायी याने पहले मानो हजार रुपये भी न थे और अब करोड हो गए, अब उसको कोई सुयोग मिले और ज्ञान की बात मिले और उसको यह बात झलकमे आये कि बाह्य तत्त्व तो एकदम भिन्न हैं, उनसे आत्माका कुछ सुधार नही और वह ज्ञान प्रकाश उसे सुहा जाय तो वह तो यह आग्रह नही

करता कि मैंने बडा परिश्रम करके यह करोडोकी जायदाद खड़ी की, इसे कैसे छोडा जाय ? ये लोकके बाह्य पदार्थ सब असार हैं तो एकदम सबको छोडनेमे उसे हिचक नही होती । तो जब ज्ञानप्रकाश आता है तो अज्ञान हट ही जाता है । तो यहां यह उपदेश किया कि हे भव्य जीव तुम ज्ञानके प्रसगसे अज्ञानको दूर करो ।

(५४) विशुद्ध सम्यक्त्वके भावसे मिथ्यात्वको दूर करनेका उपदेश—विशुद्ध सम्यक्त्वके भावसे मिथ्यात्वको दूर करो । जिस ज्ञानीके सही आशय बन गया मायने वस्तु जिस जिस स्वरूपसे है उस ही स्वरूपसे माननेकी बान आ गई तो अब वहां मिथ्यात्व न रहेगा । मोह, मिथ्यात्व और अज्ञान ये करीब पर्यायवाची शब्द है । मोह कहते है भिन्न भिन्न वस्तुवें हैं और उनमे एकको दूसरेका मानना यह है मोह । प्रेम करनेका नाम मोह है । तो बेहोशी कहा है कि पदार्थ तो है भिन्न भिन्न मत् किन्तु एक का स्वामी दूसरेको मानना, यह इसका है यह इसका, यह है उसका, यह आत्माकी बेहोशी है । तो जहां यह ज्ञानप्रकाश मिला कि प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे है, दूसरेके स्वरूपके नही है, अपने ही द्रव्यसे है, दूसरेके द्रव्यसे याने पिण्ड से नही, अपने ही प्रदेशसे है दूसरेके प्रदेशसे नही, अपनी ही क्रिया, अपनी ही परिणति, अपनी ही पर्यायसे है दूसरेके परिणमनसे नही, अपने ही गुणोसे है दूसरेके गुणोमे नही, जहां यह स्पष्ट बोध हो जायगा वहां यह बुद्धि जग ही नही सकती कि इसका यह कुछ लगता है, ज्ञानी घरमें रहते हुए भी जलमे कमलकी भांति रहता है । जिस कारणसे कि उसको ज्ञान प्रकाश मिला है । सही ज्ञान होनेपर फिर झूठा ज्ञान कहांसे बनावे ?

(५५) विभ्रम दूर होनेपर घबड़ाहटकी असंभवता—मानो किसी कमरेमे कुछ अधेरे उजेलेमे कोई पडी हुई रस्सीमे सांपका भ्रम हो गया तो यह सांप है ऐसा जानकर उसका दिल दहल गया, घबडा गया और चिल्लाने लगा और वही पुरुष जरा हिम्मत करके थोडा निकट जा कर देखे तो सही कि कैसा सांप है, उसे देखने चला तो वह कुछ हिल डुल तो सकता न था क्योकि वह रस्सी थी। जब कुछ हिम्मत करके और आगे बढा तो उसे साफ दिखने लगा और कुछ समझमे आया कि यह तो रस्सी सी लगती है, फिर उसका और उत्साह बढा, देखा तो वह रस्सी थी, और यहां तक कि उसे हाथसे उठाकर भी समझ लिया कि यह तो कोरी रस्सी है, उस रस्सीको वही फेंक दिया । अब वह यदि चाहे कि जैसे मैं पहले घबडा रहा था उसी तरहसे फिर घबडा लूं तो उसमे ऐसी ताकत नही है कि वह फिरसे उसी तरहकी घबडाहट अपनेमे ला सके, क्योकि उसका अज्ञान मिट गया । तो ज्ञानी पुरुषमे मोह करनेकी शक्ति ही नही, सामर्थ्य ही नही वह तो ससारी जीवोके लिए बेकार हो गया । जैसे मोही जीवोको ज्ञानप्रकाश पानेकी योग्यता नही है ऐसे ही ज्ञानी पुरुषको मोह करनेकी योग्यता नही

है। जहाँ ज्ञानप्रकाश आ गया वहाँ फिर अज्ञान अधकार कैसे आये ? हाँ कोई तीव्र पापकर्मका उदय हो, मिथ्यात्वका ही उदय हो और ज्ञान बिल्कुल मफा हो जाय, अज्ञानमे आ जाय तो फिर वही खेल, फिर खेलने लगेगा, मगर ज्ञानके रहते हुए किन्ही और कारणोसे वह अज्ञान बन सके, मोह बन सके, यह नही हो सकता। जैसे शख होता है और उसके भीतर कीडा रहता है। शख बिल्कुल सफेद होता, अब कीडा अगर कोई काली मिट्टी खा ले तो क्या शख भी काला हो जायगा ? नही। और चाहे वह कैसी ही सफेद मिट्टी खाये मगर शखको यदि काला होना है तो वह काला हो जायगा। तो कही कीडेके भोग उपभोगसे शख काला नही होता, वह उसकी योग्यता हो, उसीका योग हो तो होगा, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष किसी भी वातावरणमे रहे, अनेक झझटोमे है या कोई प्रतिकूल वातावरण है, कैसी भी स्थिति हो, मगर उन स्थितियोके कारण ज्ञानी अज्ञानमय नही बन सकता। ज्ञानीके आत्मामें ही कोई बदल बने और उसके निमित्तभूत कर्मका उदय हो और वह अज्ञानी बन गया, मगर दूसरे पदार्थके कारण वह अज्ञानी नही बन सकता।

(५६) अहिंसाधर्म अङ्गीकार करके सारंभ मोहका परिहार करनेका उपदेश—ज्ञानप्रकाश लावें, विशुद्ध सम्यक्त्व लावें और उस ही मिथ्यात्वका परिहार करें तो अनन्तम का, मिथ्याचारित्रका त्याग होगा अहिंसाभावको अपनानेसे। चारित्र क्या है ? अहिंसाभाव। अहिंसा दो प्रकारकी है—(१) द्रव्य अहिंसा और (२) भाव अहिंसा। अपने भावोमे विकार न आने देना यह है भाव अहिंसा और किसी प्राणीका घात न करना यह द्रव्य अहिंसा है। तो विकार जब आये नही तो वही तो सम्यक्चारित्र हुआ। तो अहिंसाभावकी वृद्धि करके झट दोष मोहका परित्याग करें। मोहमे निष्कर्ष यह निकलता कि वह आरम्भमे डट जायगा तो यह आरम्भ तो पहिचान है मोहकी। यदि वह परिग्रहके आरम्भमे लगता है तो समझिये कि उसे मोह है। तो अहिंसा धर्मका आदर करके अविकार ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वका आश्रय लेकर इस आरम्भ और मोहका त्याग करें।

पव्वज्ज सगचाए पयट्ट सुतवे सुसजमे भावे।
होइ सुविसुद्ध झाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥१६॥

(५७) निष्परिग्रह प्रव्रज्यामे प्रवर्तनका उपदेश—इस गाथामे वीतराग भाव पानेके लिए कर्तव्यकी शिक्षा दी है। कि हे भव्य तू वीतराग आनदको लेना चाहता है तो परिग्रहका त्याग जिसमे है ऐसी दीक्षाको ग्रहण कर। जिनदीक्षा, निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह, भीतर निष्परिग्रह, बाहर निष्परिग्रह। अब बाहरसे कोई बने निष्परिग्रही और भीतरमे वासना रहे तो वह निष्परिग्रह नही है, कर्मबध होता है तो बाहरी चीजोको देखकर नही होता कि इसके शरीर

पर क्या लिपटा है, यह किस जगह रह रहा है, यह देख करके कर्मबंध नही होता, किन्तु परिणाम किस ओर है, बेहोशीमे है या होशमे है। यदि बेहोशीमे है तो उसे कर्मचोर सताते है और यदि होशमे है तो उसे कर्मचोर सता नही सकते। होश होने पर भी कुछ परिस्थिति कभी ऐसी होती है कि कर्म चोर आते है और तग करते हैं, मगर होश होने पर इसका माल नही लुट सकता तो ऐसे ही जब अपना ज्ञानस्वरूप अपने उपयोगमे बसा हो तो कर्म उदयमे आ रहे मगर आकर अव्यक्त होकर निकल जाते है और उसका व्यक्त रूप नही आ पाता। तो अतरगसे निष्परिग्रह बनें, बाह्यसे निष्परिग्रह तो होना ही है। कोई पुरुष परिग्रह तो रखे बर्ताव तो करें और कहे कि मेरे पास परिग्रह नही है तो एक तो उसके कपटका दोष है, सयम वहाँ है ही नहीं।

(५८) **आत्मसंयमनकी कार्यकारिता**—मुक्तिके इच्छुक निर्ग्रन्थ दीक्षा-धारण करें और सयमस्वरूपभाव बनावें। अपने आत्माको अपने आत्मामे नियंत्रित करें निकटकालमे मोक्ष पावेगा। जो कर लेगा वह उसका लाभ उठायगा। जो न करेगा, बल्कि गप्प ही करेगा उसको इसका लाभ नही मिलनेका। गप्प भी कुछ ठीक है, मगर आत्माकी चर्चा चल रही और नही भी वह उतरी है चित्तमे, तो चर्चा तो है, कभी उतर भी जाती, मगर लाभ मिलता है आत्माके अविकार स्वरूप ज्ञानमे बसें तब। और यह ही सयमभाव है, भले प्रकार अपने आत्मामे नियत्रित हो जाना, ज्ञान ज्ञानरूप रहे, ज्ञानसे ज्ञानमे ज्ञान ही हो यह स्थिति बने तो इस सयमभावका आदर करें और सम्यक् प्रकारके तपमे प्रवृत्ति करें क्योकि तपकी अभी आवश्यकता है। अशुभोपयोगके साधनभूत कर्मका उदय चल रहा है, उन कर्मोके उदय को निरर्थक करनेके लिए याने वे व्यक्त न हो सकें इसके लिए शुभोपयोगकी आवश्यकता हुई। तपश्चरण आदिक सब शुभोपयोग हैं। सो तप आदिकमे प्रवृत्ति करें जिसमे कि निर्मोह वीत-रागपना होनेपर निर्मल शुक्लध्यान उत्पन्न होवे। रागरहित ध्यानको शुक्लध्यान कहते हैं। ज्ञान है तो वह अपना परिणमन तो करता ही रहेगा याने जानता ही रहेगा अब किस तरह का जानन बने जो यह जीव पवित्र हो जाय ? निर्ग्रन्थ होकर, दीक्षा लेकर सयमभाव रखना, तपकी प्रवृत्ति करना, ससारका मोह दूर होना, वीतराग दशा होना, निर्मल धर्मध्यान होना, शुक्लध्यान होना, और उसके बलसे केवलज्ञान होना, बस यह स्थिति जब मिलती है तो उसे कहते हैं अरहत भगवान। जब आयु पूर्ण होती है तो ये ही प्रभु सिद्ध हो जाते है। तो ऐसा कल्याणका पद पानेके लिए मूलमे तो सम्यक्त्वाचरण हुआ, फिर सयमाचरण हुआ। उसके प्रतापसे प्रभुताका पद प्राप्त हुआ।

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं ।
वज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण ।।१७।।

(५९) सम्यक्त्वाचरणकी हितकारिता—सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण यह तो है सन्मार्ग और ये दोनो न बन सके और मिथ्याबुद्धिमे मस्त रहे उसकी जो वृत्ति है वह कहलाता है मिथ्यामार्ग । तो मिथ्यामार्गकी प्रवृत्ति किस कारण होती है इसका वर्णन इस गाथामे किया है । जो मोही जीव है वे अज्ञान, मोह मिथ्यात्व इन दोषोसे मलिन जो खोटे दर्शन है उनमे प्रवृत्ति होती है, सो यह सब मिथ्यात्वके उदयका माहात्म्य है । कितने ही लोग बहुत बुद्धिमान वैज्ञानिक बडा सूक्ष्म प्रयोग बनायें, इतनी तेज बुद्धि पाकर भी अगर प्रत्येक पदार्थके स्वतत्र सत्त्वका बोध नही रख रहा तो उसकी आत्माकी ओरसे बेहोश कहा जायगा । सर्व ज्ञानोमे प्रधान ज्ञान यह है कि यह दृष्टिमे रहे कि यदि कोई चीज है पुद्गल पिण्ड, पेन, दवात कुछ भी है तो यह अनन्त परमाणुओका पिण्ड है और वे अनन्त परमाणु प्रत्येक एक एक परमाणु अपनी-अपनी स्वतत्र सत्ता रख रहे हैं और एकका दूसरा कुछ नही लगता, पर योग ऐसा है कि वे अनन्त परमाणु मिलकर एक स्कधरूप अवस्थामे हैं, पर इस वक्त भी प्रत्येक परमाणु अपनी स्वतत्र स्वतत्र सत्ता रखता है । ये जीव जो दिखनेमे आते हैं पुरुष, स्त्री, बच्चे, पशु पक्षी ये क्या चीज हैं ? ये सब अनन्त परमाणुओके पिण्ड हैं । जो मनुष्य बैठा है उसमे एक तो जीव है और अनन्त परमाणु शरीरके है, अनन्त परमाणु कर्मके हैं तो शरीर कर्म और जीव इनका यह एक पिण्डोला है जो दिख रहा है, और जो अनेक द्रव्योका पिण्डोला हो उसे माया कहते हैं ।

(६०) मायामे प्रवर्तन न करनेका अनुरोध—मायामे मत लगो इसका अर्थ यह है कि जो अनेक द्रव्योका पिंडोला है इसे तुम सत्य मत समझो । जो दिख रहा यह सब सत्य कुछ नही है । है तो सही मगर परमार्थ कुछ नही है । जीव निकल जायगा देहको छोडकर देहके भी परमाणु बिखर जायेंगे, यहाँ सच्चाई क्या रही ? तो यह ज्ञान दृढतासे बनानेकी आवश्यकता है कि जो दिख रहा है वह सब माया है, वह अनेक पदार्थोंका मिलकर बना है । उसका क्या विश्वास ? वह विघट जायगा । जैसे यहाँ जीवनका क्या विश्वास ? जीव अलग हो जायगा । क्यो हो गया अलग कि वह अलग तो था ही, जब शरीरमे रह रहा था तो उसकी अलग सत्ता थी, वह अब यहाँ न रहा, अन्य जगह चला गया । तो जो दिख रहा है यह विश्वासके काबिल नही है याने यह परमार्थ है । हितरूप है, इसके सग्रहसे ही मेरा उद्धार है । यह बात रच भी नही है क्योकि सब माया है । केवल एक परमाणु है वह है परमार्थ । अगर परमाणसे ही प्रेम है तो एक एक परमाणुसे करो प्रेम । तो कोई कर सकेगा

क्या ? एक की तो बात क्या ? संख्यात असंख्यात परमाणुओंका पिण्ड भी आँखोसे नही दिखता, उपयोगमे नही आ सकता, जो भी दिख रहा है छोटासे भी छोटा कंकड तो वह भी अनन्त परमाणुओंका पिण्ड है। तो परमार्थसे कौन प्रीति करता है ? जो भी प्रीति करता है वह मायासे प्रीति करता है। जिसकी परिस्थिति यह है वह मायासे अलग नही हो पा रहा फिर भी उसका लक्ष्य विशुद्ध है और परमार्थको वह प्राप्त कर सकता। तो यह सब माया जो कि अनेक पदार्थोंका पिण्ड है उसमे जो मुग्ध होता है सो यह सब मिथ्यात्वके उदयसे होता है। और जो अनेक दर्शन है, जो वस्तुके स्वतत्र स्वतत्र सत्त्वका सही प्रतिपादन नही करते किन्तु ऐसा ही वर्णन करते है कि जिससे स्वतन्त्र सत्ताका भान रहे और एक दूसरेसे संबधकी बात चित्तमे आये और उस ही का ग्रहण करले तो वह खोटा दर्शन है। उसमे अज्ञानी जीव ही प्रवृत्त हो सकते है।

(६१) **परमार्थदर्शनके अभ्यासकी आवश्यकता**—जिसे अपना कल्याण करना है उस को यह बात खूब सीखना चाहिए और उसका ज्ञानमे बहुत बहुत प्रयोग करना चाहिए, क्यो कि जो भी दिखे उसमे ऐसा निरखें कि इसमे जो एक एक परमाणु है वह तो सच है, वह परमार्थ है वह द्रव्य है और यह जो अनेक द्रव्य है, और यह जो अनेक द्रव्योका मिलकर बना पिण्ड है यह माया रूप है अपरमार्थ है। कभी कभी बरसातके दिनोमे देखा होगा कि बच्चे लोग मिट्टीके रेतको अपने पैरमे रखकर उसे थपथपाकर भदूना बनाते हैं और उसे अपना घर बताते है, मगर यह दृष्टि वे नही रखते कि यह कोई पक्की चीज है। वे जानते है कि यह तो रेतका भदूना है और थोडी ही देरमे उसे पैरसे मिटा देते है, तो वह रेतका भदूना जरा जल्दी मिट जाता और ये भीट, टेबुल, दवात वगैरह ये सब चीजें जरा कठिन भदूना बन गई सो ये कुछ अधिक देरमे मिटते, सोना, चाँदी वगैरहसे बनी चीजें जरा कुछ उससे भी अधिक देरमे मिटते, मगर इनमे जो एक एक अणु है वही वास्तविक द्रव्य है और वहां मिलकर यह आकार बन गया। तो ज्ञानी जीव इस आकारमे मुग्ध नही होता। तो यह बात बार बार ध्यानमे लावें कि जो भी चीज यहाँ आँखो दिखती है वह सही चीज नही है। इसमे जो एक एक परमाणु है वह सही द्रव्य है, वह कभी नष्ट नही होता और यह मिलावटका आकार तो नष्ट हो जाता है। जीवोमे भी प्रत्येक जीवके प्रति, और खासकर खुदमे घरमे रहने वाले जीवोके प्रति यही बात विचारें कि ये कोई परमार्थ वस्तु नही है, यह सब अनन्त परमाणु और जीवका मिलावट है, ये सब बिखर जायेंगे। यहाँ किस से मोह रखना ? ऐसा निरखे तो वह मायाको भी परमार्थ दिख रहा। और जो इस परमार्थ को नही देख सकता वह मायामे आसक्त रहता है। उस ही को अपना सर्वस्व हितरूप समझ

ता, कर्मबन्ध होता, ससारमे रुलता, तो यथार्थ परिचय बनतो सबसे बडा भारी वैभव है। मान लो जीवनमे भारी दरिद्रता आ जाय और दुनियाके लोग मुझे मत मानें, कुछ भी बात आ जाय तो ये कोई उपद्रव नही पर एक मेरा ज्ञान बेहोश न हो, मेरे ज्ञानमे मेरा ज्ञानस्वरूप समाया रहे, यह स्थिति चाहिए, मगर मेरे ज्ञानमे ज्ञानस्वरूप आये और मर भी जायेंगे तो बस इस ज्ञान प्रकाशको साथ लेते हुए जायेंगे तो आगे भी सुखी रहेंगे और इसकी सुध छोड दी, मायामे आसक्त हो गए तो यह भव भी बिगडा और भविष्य भी बिगडा, इस कारणसे मिथ्यादर्शनमे उपयोग न देना और अभिप्राय निर्मल बनाकर ज्ञानका स्वाद लेते रहे, यह कल्याणार्थीका कर्तव्य है।

सम्मद्दसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया।
सम्मेण य सद्दहदि परिहरदि चरित्त जे दोसे ॥ १८ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनके विवरणमे सक्षिप्त रूपसे कार्य बतला रहे है। सम्यग्दशनके द्वारा तो यह आत्मा सत्ता मात्र वस्तुको देखता है। पदार्थोंकी उनकी जुदी जुदी सत्ता है। द्रव्य पर्यायात्मक स्वरूप, सर्व वस्तु परिणमनमे स्वतत्र स्वतत्र, उनका जो निजी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव है वह स्वतत्र सम्यग्दर्शनसे यह देखता है, समझता है और हितरूपसे भी श्रद्धा करता है। तो जो सम्यग्दर्शन जीवका उपकार करने वाला है उस उपयोगसे पदार्थ जिस प्रकार है उस प्रकार सामान्यतया सत्तारूप निरखता है, उनमे भेद नही करता और ज्ञानके द्वारा द्रव्य पर्यायोको सबको जानता है। वस्तुको उन वस्तुओंकी विशेषताओके साथ जानना सम्यग्ज्ञानका काम है। यद्यपि जाननेमे सीधे गुण और पर्याय नही आते, क्योकि गुण और पर्याय वस्तु नही हैं। वस्तुकी विशेषता है। गुण स्वय सत् नही, पर्याय स्वय सत् नही, किन्तु सद्भूत जो द्रव्य है उस द्रव्यको ही भेदविधिसे समझनेके लिए गुण बताये गए हैं और चूंकि वे द्रव्य हैं अतएव प्रतिसमय परिणमते रहते हैं। तो वह परिणमन प्रतिसमयका एक एक अवक्तव्य है, उसको भी समझानेके लिए गुणभेदका सहारा लेकर समझाया गया।

तो ऐसे ये नाना गुण और नाना पर्याय यह वस्तुकी विशेषता है, सो दर्शनसे देखा, ज्ञानसे जाना और सम्यक्त्वसे सबका श्रद्धान किया। श्रद्धानमे रुचिकी कला रही, श्रद्धान उसका नाम है जहा यह बात चित्तमे जम जाय कि यह है हितरूप। हितरूपमे निर्णय रखते हुए जो ज्ञान है वह श्रद्धानकी एक कला है तो सम्यक्त्वसे श्रद्धान करना है और जब देखना जानना और श्रद्धान होता है तब यह जीव चारित्रमे जो दोष उत्पन्न होते उनको छोड़ता है अर्थात् सम्यक्चारित्र विकसित होता है। वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है और द्रव्य गुणात्मक है।

द्रव्य शाश्वत रहता है और द्रव्यमे रहने वाली शक्तियाँ शाश्वत है । तो जब भेदविधिसे देखा तब तो गुण नजर आये, अभेददृष्टिसे देखा तो गुण द्रव्यमे सोख गए है याने निष्पीत हुए हैं, गुणोका भेद अब नजर नही आता । द्रव्य एक ही विदित होता है । तो द्रव्य गुणात्मक है और उनसे पर्यायें बनती हैं ।

तब इस तरह समझिये जैसे कि कपडा बुना जाता है तो जो लबा धागा है वह तो समझिये कि सबमे रहने वाला है और जो चौडाई वाला धागा है जो बुना जाता है वह जिस जगह है वही है और ऐसी लबाई और चौडाई वाले धागेके बिना कपडा नही बुनता ऐसे ही लम्बाई वाली विशेषता है गुण और चौडाई वाली विशेषता है पर्याय । लम्बाई वाली विशेषता ३ काल रहती है, चौडाई वाली विशेषता उस ही समय रहती है । तो ऐसे गुणपर्यायस्वरूप द्रव्यको जैसा है वैसा देखना, उस ही प्रकार जानना, उस ही प्रकार श्रद्धान करना और उस ही अनुरूप आचरण करना यह है मोक्षका मार्ग । वस्तुस्वरूपके अनुसार आचरण करनेका भाव यह है कि जब सर्व वस्तुओका स्वतन्त्र स्वतन्त्र अस्तित्व जाना और उस रूपसे श्रद्धान किया तो अब उसमे विपरीत उपयोग न बनना चाहिए, याने एकका दूसरा कुछ लगता है ऐसा विकल्प न जगना चाहिए और एकका दूसरा कर्ता है, स्वामी है, भोक्ता है आदिक विकल्प न जगे तो यह ही निर्दोष सम्यक्चारित्र कहलाता है । तो इस प्रकार रत्नत्रयकी उपासनासे मुक्तिका मार्ग मिलता, मुक्ति मिलती ।

द्रव्यका लक्षण सत्ता बताया गया और सत् कहते हैं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तको, गुण पर्यायवानको । सो गुण तो हुआ करते है सहवर्ती याने द्रव्यके साथ साथ रहना, द्रव्य है अनादि अनन्त, तो गुण भी अनादि अनन्त है और क्रमवर्ती पर्यायें होना, जिस समयमे जो पर्याय हुई वह उसी समय है अगले समयमे विलीन हो जाती है, इस तरह समस्त द्रव्योका स्वरूप है । सग्रहनयसे एक सत् कहनेमे समस्त द्रव्य उसमे आ जाते है पर इतने से तो व्यवहार तीर्थप्रवृत्ति नही बन पाती । तो उस सत्का सग्रहका भेद करके पृथक् पृथक् स्वरूपास्तित्वकी ओर ले जाना है । जब पृथक् पृथक् स्वरूपास्तित्वका बोध हो तब ही यह ज्ञान बन पाता है कि एक द्रव्यका दूसरा द्रव्य कुछ नही लगता है । और इतना जाने बिना भेद विज्ञान नही बन सकता । तो सग्रहनयने संग्रह तो किया, पर भेदविज्ञानकी बात व्यवहार द्रव्यार्थिकनयको कृपासे नही बनती । सग्रह किए हुए समूहका भेद कर स्वरूपास्तित्वकी ओर आ जाना यह है नयके ज्ञाताओका काम । तो सग्रहनयसे द्रव्य कहा तो उसमे छहो प्रकारके द्रव्य आ गए, और उस होनेको जब ६ प्रकारके द्रव्योसे अलग अलग समझा जाय तो व्यवहारनयसे उसके भेद किए यो समझिये । तो द्रव्य ६ प्रकारके हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म,

आकाश और काल। इसमे किसी भी वस्तुका परिचय असाधारण गुणके बिना नही हो पाता।

जीवका परिचय जीवके असाधारण गुणसे होता है। चूंकि वे सब द्रव्य हैं तो उनमे साधारण गुण समानतासे रहते हैं। गुण भी पदार्थकी विशेषता ही है। ऐसा नही है कि कोई एक गुण है और वह सब पदार्थोंमे रहता है। जैसे बताया गया कि अस्तित्व गुण सब पदार्थोंमे रहता है, तो एक ही अस्तित्व गुण हो, सद्रूप हो और वह सब पदार्थोंमे व्यापक हो ऐसा नही हैं, किन्तु पदार्थ हैं सब और अपने-अपने अस्तित्वसे सद्भूत है। अब चूंकि सभी पदार्थ सद्भूत है सभीमे अस्तित्व पाया जाता है इसलिए इसे साधारण गुण कहते हैं। तो साधारण गुणसे तो वस्तुकी पहिचान नही बनती, क्योकि वह तो सबमे मौजूद है, असाधारण गुणसे पहिचान होती है। तो वह असाधारण गुण है जीवमे चेतना। जो जीवमे ही पाया जाय। और जीवमे भी सब जीवोमे पाया जाय, किन्तु जीवको छोडकर अन्य किसी द्रव्यमे एकमे भी न पाया जाय तो वह निर्दोष लक्षण कहलाता है।

चेतना गुण सब जीवोमे है चाहे निगोद जीव हो अथवा सिद्ध जीव हो, चेतन सबमे है। और जीवोको छोडकर अन्य किसी द्रव्यमे भी नही है। पुद्गल धर्म, अधर्म आकाश काल इन पाँचो ही अजीव द्रव्योमे चेतन ज्ञान नही पाया जाता, इसलिए चैतन्य लक्षण निर्दोष है और उससे जीवकी सही पहिचान होती है। तो चेतना तो गुण है जीवका, मगर विशेषताओंको जब देखा तो चेतना कहते हैं प्रतिभास स्वरूपको, और चूंकि वस्तु सामान्य विशेषात्मक होती है तो उसका असाधारण गुण भी सामान्यका क्रमसे लिए हुए होगा, क्योकि गुण वस्तुसे भिन्न चीज नही है। तो चेतना भी सामान्य विशेषात्मक है अर्थात् सामान्य प्रतिभास और विशेष प्रतिभास ज्ञान है और यह चेतना जब जानता देखता है तो जान देख करके कही न कही रमेगा भी। तो रमण करनेका जो स्वभाव है वह है चारित्रशक्ति। इस तरह तीन बातें ज्ञानमे हुई कि आत्मामे दर्शन है, ज्ञान है और चारित्रशक्ति है पर जहां दर्शन, ज्ञान, चारित्र है और वह अपनी विशुद्ध स्थितिमे रहता है तो वहां आकुलता नही जगती, और जहां यह विपरीत बनता है याने सम्यक्त्व विपरीत बन गया, चारित्र विपरीत बन गया तो वहां आकुलता बनती है।

आकुलता होनेका नाम कष्ट है और आकुलता न रहनेका नाम आनन्द है। तो जब यह परिणति जीवमे देखी जाती है तो उसके आधारभूत शक्ति भी माननी होगी। वह कहलाती है आनन्दशक्ति। अब इन शक्तियोके परिणमन होते हैं तो उपाधि सबधमे तो विपरीत परिणमन होता है और उपाधिरहित स्थितिमे स्वाभाविक परिणमन होता है, और उपाधि कुछ दूर हुई कुछ अभी बनी है ऐसी स्थितिमे स्वभावका अपूर्ण परिणमन भी चलता है,

अपूर्ण विकास । इस तरह जीवमे मति श्रुत आदिक ज्ञान, क्रोधादिक कषायें ये सब परिणमन चलते है । अब चूँकि द्रव्य है जीव और जो इसके साथ बंधनमें है कर्मादिक, वे सब भी द्रव्य है और ऐसे अनेक द्रव्योका मिलकर बधन सबधरूप यह चल रहा है, तो इसका जो आकार बनता है सो वह नर नारक तिर्यञ्च देवका आकार बनता है, पर उपाधि कोई न रहे ।

तो जब द्रव्यके साथ किसी दूसरे पदार्थका सपर्क न हो, केवल अकेले ही कोई वस्तु रहती है तो उसका आकार स्वाभाविक बनता है और गुणका विकास भी स्वाभाविक बनता है, ये पदार्थमे परिणमन चला करते है । सभी पदार्थोंमे एक विशषता है अर्थ पर्यायकी । प्रत्येक पदार्थ जब एक परिणमनसे दूसरा परिणमन करता है तो वह एक द्रव्यको चार्ज सौंपे यह द्रव्य बन जाता ह । और जैसे एक अफसर दूसरे अफसरको चार्ज सौपे तो उसमे कितनी ही अडचनें खलबली, ऊँच-नीच सब प्रकारके व्यवहार बनते हैं । यहां द्रव्य जब एक पर्यायको तजकर दूसरी पर्यायमे आता है तो षट्गुण हानि वृद्धि चलती है । तो षट्गुण हानि वृद्धिरूप परिणमन अर्थपर्याय कहलाती है । इस तरह जीवद्रव्यमे सदा रहने वाली शक्तियां है । उन शक्तियोके प्रतिसमय परिणमन होते रहते है और इनका कोई न कोई आकार चलता रहता है । इन सब बातोको सही यथार्थ ज्योका त्यो जानना, श्रद्धान करना यह है सम्यक्चारित्रका मूल । लोग कह तो देते है कि मोह न करो, पर उसका प्रयोग करके कोई चलकर बताना चाहे तो उसे बडा मुश्किल होता है । मोहसे दु.खी भी होते जाते और मोह किए बिना चैन भी नही मानते, यह स्थिति जीवोकी हो रही है, तो भाई जब मोहसे दु.ख मान रहे हैं, अनेक कष्ट हो रहे हैं तो उस मोहको तज दिया जाय । एक बार चित्तमे आ जाय कि मैं मोहको छोडकर ही रहूगा, फिर भी छोड नही सकते, क्योकि मोहके छोडनेका उपाय उनको विदित नही है और मोहमे दुःखी होते । और धर्मात्मा जनोका चित्त तो यह चाहता है कि मेरा यह मोह बिल्कुल दूर हो जाय तो मैं बहुत आनन्दमे हो जाऊँगा, पर मोह छोडनेका रास्ता विदित नही है तो मोह छूट नही सकता और जिनको मोह छोड़नेका रास्ता विदित हो गया उनका मोह छूट जायगा । चाहे कर्मोदयवश उसके रागद्वेष भी बनते रहे, मगर उसे मोह नही रहता ।

उन रागद्वेषोंके कारण वह अपने अन्दर कोई घबडाहट नही मानता । तो मोह छोडने का रास्ता कौन है ? वह द्रव्य, गुण, पर्यायोका यथार्थ ज्ञान, यह है मोह छुटानेका रास्ता । धर्म है निर्मोह होनेमे । धर्मके नामपर जो अनेक बातें की जाती हैं उनको करके फिर यह जीव शान्तिका फल देखना चाहता है और शान्तिका फल मिलता नही उससे तो यह हैरान रहता है । धर्म होता है निर्मोह होनेमे । निर्मोह स्थिति बने और फिर शान्तिका लाभ न मिले

तब प्रश्न करे, पर धर्म तो करते ही नही और धर्मका नाम लेकर विकार करते हैं तो विकारसे शान्ति नही उत्पन्न होती। धर्म है निर्मोह होना और निर्मोहता जगेगी द्रव्य गुण पर्यायका यथार्थ स्वरूप जाननेसे और द्रव्यकी एक यूनिट (इकाई) तक, एक अस्तित्व तक जिसमे सग्रहका नाम न रहे, ऐसी एक सत्ता तक, एक व्यक्ति तक दृष्टि पहुचे तो वहाँ निर्मोह होनेका रास्ता मिलता है।

द्रव्यसे जानें कि यह मैं जीव शाश्वत हू, अनन्त शक्तियोका पिण्ड हू। उन शक्तियो के परिणमन चलते है, वे परिणमन मेरेमे ही चलते है, दूसरे जीवमे नही, सुख दुःखका जो वेदन होता है वह मेरेमे ही होता है दूसरे जीवमे नही। मेरेमे जो विकल्प जगते हैं वे मुझ मे है दूसरेमे नही, दूसरेका सब कुछ उस ही मे होता है, उससे बाहर नही, ऐसे सब जीव अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए अपने आपमे परिणमते हुए सदा काल बर्तते रहते हैं। यहाँ एकका दूसरेसे रचमात्र भी सबध नही है। यह जीव अज्ञानवश मानता है कि मेरा इनसे सबध है, पर वस्तुस्वरूपकी ओरसे देखो तो एक जीवका दूसरे जीवसे रच भी सबध नही है। जब यह विदित हो जाय कि एक जीवका दूसरे जीवके साथ कुछ सबध नही, सर्व स्वतन्त्र स्वतत्र सत् हैं तो उनको अन्यसे मोह भाव न जगेगा। धर्मात्मा पुरुष धर्मात्माओके प्रति प्रीति भाव रखता है, वात्सल्य रखता है, पर उसके इस प्रकारका मोहभाव नही होता कि यह मैं इनके आधारसे ही सत्तावान हू। तो व-तुका स्वरूप स्वतत्र स्वतंत्र जैसा है वैसा ज्ञानमे आये तो मोह दूर होता है। जीवद्रव्यकी गुणपर्यायकी बात सक्षेपमे कही।

अब पुद्गल द्रव्यको देखिये पुद्गलमे परमार्थ द्रव्य है परमाणु। जो कुछ यहा हम आपको नजर आता है वह सब है माया, यह वास्तविक वस्तु नही है। तो परमार्थ वस्तुका कुछ विवरण समझना चाहिए। प्रत्येक परमाणु निरन्तर परिणमता रहता है और परमाणु का गुण है रूप, रस, गध, स्पर्श और उनकी व्यक्तिया है। रूप गुण ५ प्रकार परिणमता है— काला, पीला, नीला, लाल, सफेद। रस ५ प्रकार परिणमता है—(१) खट्टा, (२) मीठा, (३) कडवा, (४) चरफरा और (५) कषैला। गध दो प्रकार परिणमता है—(१) सुगंध। (२) दुर्गन्ध। और स्पर्श गुण चार प्रकार परिणमता है—(१) स्निग्ध [२] रूक्ष और [३] शीत [४] उष्ण। इस तरह परमार्थ परमाणुमे शक्ति और परिणमन चलता है। चार बातें जो नजर आती हैं—[१] हल्का [२] भारी [३] कोमल [४] कठोर, सो यह पुद्गलद्रव्यका मौलिक गुण नही है। किन्तु ये विभाव बन गए हैं। पुद्गलमे ऐसे वैभाविक गुण हैं कि पुद्गल परमाणुओका स्कध अगर बन जाय अनन्त परमाणु एकत्रित हो गए उनका बधन है तो उस समय कोई स्कध वजनदार है, कोई स्कध हल्का है, कोई कठोर है, कोई कोमल है

ये चार जो पर्यायें हैं सो पुद्गल परमाणुओंकी मायामे आते है।

परमार्थमे ये चार बातें नही है। तो वहाँ यह देखना कि प्रत्येक परमाणुका परिणमन उस ही परमाणुमे है, उससे बाहर अन्य परमाणुओंमे नही, किसी जीवने नही। जीवके साथ कर्म भी बँधे है और वे कर्म पुद्गल है, उनकी वर्गणाओंका स्कध है। उनमे जो कर्मपना आता है प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभागबंध चलता है सो वह भी उन्हीमे ही चलता है। पुद्गल कर्मकी बधादिक स्थितियोका कर्ता जीव नही है। जीव अपने ही परिणामको करता है। पुद्गलकर्म अपने ही परिणमनको करता है, एक निमित्तनैमित्तिक योग है सो इसमे यह समझना चाहिए कि उपादानमे ऐसी कला होती है कि वह निमित्तका सन्निधान पाये तो वह उस उस अनुरूप स्वय परिणमता जाय। कही निमित्तका प्रभाव उस दूसरे पदार्थमे उपादानमे नही पाया, क्योकि प्रभाव भी वस्तुमे अभिन्न चीज है, वही वस्तुसे निकलकर बाहर जाने वाली चीज नही है। तो प्रभावका अर्थ है उत्कृष्ट रूपसे होना, निमित्त पाकर होना, उसे कहते हैं प्रभाव। तो जिस वस्तुका जो कार्य है वही उसका प्रभाव है। भाव और प्रभावमे अन्तर यह है कि जो उपाधि बिना होवे सो भाव और जो निमित्त पाकर होवे सो प्रभाव। सो वह प्रभाव निमित्तका नही है, पर निमित्तके सन्निधानमे उपादानने ऐसा परिणमन बनाया तो चूँकि निमित्त सन्निधानमे बना पाया इस कारण वह प्रभाव कहलाता है। तो इस पुद्गल द्रव्यका यथार्थ परिज्ञान करनेसे वस्तुस्वातत्र्यका बोध हुआ और उसमे समझा गया कि एक वस्तुका दूसरी वस्तु कुछ भी नही लगता। आज ये अज्ञानी मनुष्य बडे परेशान हो रहे बच्चोमे मोह करके या अन्य इष्टमे मोह करके, पर वे यह नही समझ पाते कि अगर ये जीव बच्चेके रूपमे मेरे घरमे न आये होते, इनको छोड़कर अन्य कोई जीव आते तो इनको तो चूँकि मोह करनेकी आदत है सो उनमे मोह करते, पर उन जीवोके साथ कोई सम्बन्ध जुटा है-अतएव उनसे मोह किया जा रहा, यह बात गलत है। किसी भी जीवके साथ किसी भी जीवका कोई सम्बध नही है। किन्तु अपनी भावनाके अनुसार अपनेको जिनमे कुछ सुख सा दिखता हो उसके अनुसार किसी भी जीवमे कल्पना बना लो, उससे यह जीव मोही बनता और अपनेमे रा[illegible] तो वस्तुका यथार्थ ज्ञान होना, भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्व समझ मे आना यह मोहका प्रध्वस कर देता है। तो मोहसे दुःख मानने वाले पुरुष मोहको मिटाने के लिए वस्तुके स्वरूपका सही परिचय बनायें। इस उपायके बिना संसारके सकट न टल सकेंगे, और कर्मबधनसे छुटकारा न मिल सकेगा और ससारके जन्ममरणकी विडम्बना सहती रहनी पडेगी। इसलिए कुछ तो ऐसी दृढ प्रतिज्ञा करना चाहिए कि मैं तो वस्तुके सही स्वरूप की पहिचान कर ही रहूंगा।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स ।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥ १९ ॥

(६) **मोहरहित जीवके रत्नत्रयके भाव**—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन भाव मोहरहित जीवके होते हैं। सम्यग्दर्शन नाम है अविकार सहज चैतन्यस्वरूपका हितरूपमे श्रद्धा । सीधी एक दृष्टि बने उसमे सर्व सिद्धि है । और जो आचरण चाहिए मोक्षमार्गके लिए जो उपयोगिता चाहिए वह सबकी सब सहज होती है । केवल एक यह दृष्टि चाहिए कि मैं अविकार चैतन्यस्वरूप हू । मैं हू, स्वय सत् हूँ तो मैं ही स्वयं सत् किस रूपमे हू उसकी दृष्टि चाहिए । मैं चेतन हू और चेतनका कार्य चेतनामात्र है, प्रतिभास हो गया। जैसे प्रकाशमान वस्तुका कार्य प्रकाशमात्र है, अन्य कार्य नही, ऐसे ही आत्माका कार्य केवल प्रतिभासमात्र है, अन्य जो कुछ बातें उत्पन्न होती हैं वह सब कर्मविपाककी छाया है । कर्मरस है, कर्मविपाकका प्रतिफलन है । तो परपदार्थके सबधका स्वरूपमे क्या मतलब ? पर पर मे है, मैं आत्मा अपनेमे हू । तो मैं सहज जो स्वरूप हू उस रूपमे अपनी श्रद्धा बने कि मैं यह हू, इसका नाम है सम्यग्दर्शन । अब इतनी बात पढे लिखे भी कर सकते, बिना पढे लिखे भी कर सकते । सम्यक्त्व होनेमे बहुत विद्या कला हो तब ही हो सकें सो बात नही । वह तो एक दृष्टिकी बात है । जिसको अपने बारेमे इस सहज चित्प्रकाशकी दृष्टि हो गई उसको सम्यग्दर्शन होता, और यह कहलाता है अनुभव अपने आपका । तो इस अनुभवसहित फिर जो ज्ञान चलता है वह सब सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान होनेपर फिर इस जीवके बाहर मे उत्सुकता नही रहती कि अमुक पदार्थको मैं यो बनाऊँ और तब फिर इसका अपने आपमे ही रमनेका भाव रहना है । यह हुआ सम्यक्चारित्र । तो ये तीन भाव मोहरहित जीवके होते हैं ।

(६३) **स्वतंत्र स्वतंत्र स्वरूपास्तित्वके परिचयमे मोहरहितता**—मोह मायने पदार्थका स्वतत्र सत्त्व न जानकर एकको दूसरेका संबधी मानना यह है मोह । जो स्वतत्र सत्त्व जब दृष्टिमे आ गया, मोहरहित हो गया तो उसके ये तीन भाव होते है । तो ऐसा यह मोहरहित जीव आत्माके गुणोकी आराधना करता हुआ अर्थात् अपने आपको चित्प्रकाश निरखता हुआ यथाशीघ्र कर्मोको दूर कर देता है । जैसे लोकमे ये निमित्तनैमित्तिक भाव दृष्टिमे आ रहे हैं कि अग्निपर तवा रखा तो तवा गर्म हो गया, रोटी सिक गई , जैसे हर एक बात निमित्तनैमित्तिक भावमे आ रही है इसी तरह यह भी एक निमित्तनैमित्तिक भाव निरखिये कि जीवके जब परपदार्थोके प्रति इष्ट अनिष्टपनेका विकल्प होता है तो वहाँ कर्म बँध जाते है और जहाँ अविकार चिन्मात्र अपने स्वरूपमे दृष्टि होती है, मैं यह हू और तद्विषयक इष्ट

अनिष्ट रागद्वेष न रहे वहाँ कर्म अपने आप झड जाते हैं। यह बात पूर्ण सत्य है और ऐसी विधिमे ये ही काम हुआ करते है। तो जब यह जीव अपने उस चैतन्यस्वरूपकी आराधना करता है तो वह इन कर्मोंका नाश कर लेता है।

सखिज्जमसखिज्जगुण च ससारिमेरुमत्ता ण।
सम्मत्तमणुचरता करति दुक्खक्खय धीरा ॥२०॥

(६४) सम्यक्त्वाचरणका प्रताप—यह चारित्रपाहुड नामका ग्रन्थ है, इसमे चारित्र का वर्णन किया, तो सर्वप्रथम चारित्रके दो प्रकार कहे—(१) सम्यक्त्वाचरण और (२) सयमाचरण। सम्यक्त्वाचरण तो अविरत सम्यग्दृष्टिके भी होता। सम्यग्ज्ञानके होनेपर जिस आत्मप्रीति वाला आचरण होता है, धर्मपोषक आचरण होता है वह सम्यक्त्वाचरण है। तो सम्यक्त्वाचरणमे ही यह सम्यग्दृष्टि जीव सख्यातगुनी और असख्यातगुनी कर्मोंकी निर्जरा करता है। तो यह कब तक कर्मोंका क्षय है जब तक कि मुक्ति नही होती, और सम्यक्त्वाचरणके रहते हुए भी कर्मोंका क्षय है तो सख्यातगुनी और असख्यातगुनी कर्मोंकी निर्जरा है। जिस कालमे सम्यक्त्व उत्पन्न हो रहा है उस प्रथम अन्तर्मुहूर्तमे तो असख्यातगुणी श्रेणी निर्जरा चलती है, अभी जितने कर्म क्षय हुए हैं दूसरे समयमे असख्यातगुने कर्म, तीसरे समयमे असख्यातगुने कर्म दूर हो गए, पर सम्यक्त्व हो चुकनेके बाद फिर असख्यातगुनी निर्जरा नही चलती, फिर चलती रहती है सख्यातगुनी, ऐसा समझियेगा, ऐसा ही अणुव्रत महाव्रत होते समय भी होता है, जब कोई मुनि हो रहा है, प्रथम ही प्रथम सप्तम गुणस्थान हुआ, मुनिव्रत ले रहा तो उस समय उसके असख्यात गुणश्रेणी निर्जरा चलती है। फिर महाव्रत हुए बाद असख्यात गुणश्रेणी निर्जरा नही होती। होती है निर्जरा, मगर असख्यात गुणश्रेणी नही होती। और इसका अनुमान यो कर लीजिए कि जिस समय कोई व्रत लेता है उस समयके भाव कितने ऊँचे होते हैं और व्रत ले चुकनेके बाद फिर इतने ऊँचे भाव नही रहते। व्रत निभाता है, चलता है, मगर वह विशुद्धि का वेग बादमे नही रहता, व्रत लेते समय रहता है। सम्यक्त्व उदित होते समय विशुद्धिका बडा वेग चलता है। सम्यक्त्व हुए बाद जब कार्य ही सिद्ध हो गया तो वेगकी आवश्यकता भी क्या ? और वहाँ फिर साधारणतया कर्मनिर्जरा चलती है। तो सम्यक्त्वाचरण करने वाले पुरुषोके सख्यातगुणी असख्यातगुणी निर्जरा है और फिर कर्मज दुःख दूर हो जाते है। जितने भी ससारमे दुःख है उन सबका कारण मोहकर्म है। मोह दो प्रकारका है—(१) दर्शनमोह और (२) चारित्रमोह। जिसके दर्शनमोह नही रहा वह अतरगमे व्यग्र नही होता। चारित्रमोहके उदयसे क्षोभ तो आता है सम्यग्दृष्टिके भी, मगर अन्दरमे वह किकर्तव्यविमूढ नही होता कि अब क्या करू ? मेरा नाश ही हो रहा। तो दर्शनमोहमे तो है बेहोशी, अपने आपकी सुध नही, इसलिए वह व्यग्र है।

(६५) ज्ञानीकी निर्व्यग्रताका कारण—यदि दर्शनमोह न रहे, चारित्रमोहका विपाक चले तो समय समयपर अतस्तत्त्वका ध्यान बना रहेगा, पर चारित्रमोहके उदयसे प्रवृत्ति ऐसी ही रहेगी जैसी कि बाहरमे अज्ञानियोकी भी दिखती, लेकिन भीतरमे उसका (ज्ञानीका) आशय निर्मल है इसलिए वह निर्व्यग्र रहता है। इस ज्ञानीने अपने आपको अकेला निरखा, यह मैं अपनी गुणपर्यायोमय स्वय केवल एक अकेला हू, इसका किसी भी अन्य पदार्थसे अणुमात्र भी सबध नही है। यह मैं अकेला हू, यहा अकेला हू जहा जाऊँगा वहा अकेला हूं इस अकेलेमे विपत्ति ही क्या है ? तो अपने आपके इस अकेलेपनको जो निरखता रहे उसके व्यग्रता नही होती। और जहाँ उसने बाह्य पदार्थोसे सबध निरखा वहाँ ही उसको क्षोभ हो जाता। तो दर्शनमोह और चारित्रमोह इनका उदय होने पर जीवोको कष्ट होता है। सो इस ही मोहनीय प्रकृतियोकी निर्जरा ही एक खास निर्जरा है। तो सम्यक्त्वाचरण होते सन्ते तो इसको अतरंगमे आकुलता नही है और संयमाचरण कर लेने पर तो उसके सारे दुःखोका क्षय होता ही है। जिसके सम्यक्त्वाचरण हुआ है उसके सयमाचरण भी शीघ्र होगा। इसी कारणसे मोक्षमार्गमे सम्यक्त्वकी प्रधानता है, और जो जैसा पदार्थ है उसे दृढता से जान लेना इसमे क्या कष्ट और क्या बाधा ? ज्ञानी जानता ही है। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे है, अपने स्वरूपसे हटकर बाहर कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नही जाता निमित्तनैमित्तिक दशामे भी।

(६६) निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी वस्तुस्वातंत्र्यकी अमिटता—वस्तुतः सोचो तो सही कि जो नैमित्तिक कार्य हुआ है उसमे प्रभाव उपादानका ही है। निमित्तका प्रभाव उपचारसे कहा जाता कि निमित्तके होने पर हो हुआ, निमित्तके न होने पर न हुआ, इस कारण यह प्रभाव निमित्तका बोला जाता। अगर निमित्तका ही प्रभाव है, निमित्तका ही वह कार्य है तो अग्नि तृणको जल्दी भष्म कर देती है, पत्थरको भष्म करनेमे देर लगती है। तो बताओ उसके प्रभावमे कमी बढी क्यो हुई ? तो इससे मालूम होता कि अग्निमे तो अपने आपको दहन उष्ण रूप रखने भरकी बात है, अब उसके सान्निध्यमे, उसके निकटमे जो पदार्थ पहुचा उस अनुरूप उसकी दशा बन जाती है। सूर्यका प्रकाश फैला तो लोग बोलते कि यह सूर्यका प्रकाश है मगर वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे देखो तो सूर्यका प्रकाश, सूर्यका प्रभाव जितना सूर्य है उतनेमे रह सकता, उससे बाहर नहीं, जो कुछ कम दो हजार कोशका सूर्य है। उसमे ही उसका प्रकाश है, प्रभाव है, पर ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है कि सन्निधान मिलने पर यह जमीन, ये भीत, पत्थर, कांच वगैरह सब प्रकाशित हो जाते हैं। आखिर पुद्गल सूर्य विमान भी है और यहाके ये काच पत्थर आदिक भी पुद्गल है। जाति तो एक

है, पर ऐसी योग्यता है कि सूर्य तो स्वय प्रकाशमान है और ये पदार्थ सूर्यका सामना पाकर प्रकाशमान बनते हैं, पर प्रकाशमय ये पदार्थ ही बनते है। सूर्यका प्रकाश यहां नही फैला किन्तु सूर्यके सान्निध्यमे ये ही पदार्थ इस इस रूपसे प्रकाशित हो गए। यदि सूर्यका प्रकाश ही यहां आता तो वह प्रकाशभेद क्यो बन जाता कि दर्पणमे प्रकाश तेज बढे और पॉलिस वाली चीजपर प्रकाश उससे कम रहे और ऐसी सूखी चीजोपर प्रकाश बहुत कम रहे। यदि सूर्यका प्रकाश होता तो वह सब जगह एकरूप होता, न कही अधिक न कम, पर यह ज्यादा कम प्रकाश इस बातको पुष्ट करता है कि जिस पदार्थमे जितना प्रकाशरूप होनेकी योग्यता है वह अपने उस माफिक उतने प्रकाशरूप बन जाता है। यह तो निमित्तनैमित्तिक भावकी बात है।

(६७) **आश्रयभूत कारण बना लेनेकी मोटी विडम्बना**—अहो, यह जीव तो आश्रयभूतसे ही परेशान है। निमित्तनैमित्तिक भाव तो बहुत अतरग बात है। जैसे मकान कुटुम्ब ये इस जीवके रागद्वेषके निमित्त नही है, क्योकि इनके होनेपर ही रागद्वेष बने और इनके न होनेपर रागद्वेष न बने ऐसा नियम नही है। तो यह कहलाता है आश्रयभूत। हम इन पदार्थों मे ध्यान लगाकर कषाय जगाते हैं तो ये विषयभूत बनकर उपयोगमे आये, यह नमित्तिक कारण नही है। कारण तीन प्रकारके है—(१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत। उपादान और निमित्त तो सब जगह कारण होते है। अजीव अजीवके प्रसगमे उपादान और निमित्त ये दो ही कारण होते हैं, क्योकि वे दोनो अजीव हैं, उनके ज्ञान नही है। वे किसी पदार्थको उपयोगमे ले नही सकते। उपयोग ही नही तो अजीव पदार्थोंका आश्रयभूत कारण नही बनता। अजीव और अजीव परस्परमे निमित्त उपादान है तो वहाँ आश्रयभूत कारण नही बनता। तीसरा आश्रयभूत कारण जीवने ही बनाया, यह जीव जब उनमे उपयोग देता है तो वे भी कारण बन गए। निमित्तनैमित्तिक भाव नही है उनमे। और वे निमित्त कारण नही हैं, किन्तु क्रोधादिक भावोको जगानेमे कुछ तो पर विषय चाहिए याने कौनसी बात सोच करके क्रोध जगे वह कुछ वस्तु तो चाहिए, सो जो आश्रयभूत कारण बना, जिसमे हमारा दिल गया उसको विषय करके क्रोध व्यक्त होता है, दोष प्रकट हो जाता है। अगर आश्रयभूत कारणका मेल न बनाया जाय तो क्रोधप्रकृति उदयमे आयगी और उसका अव्यक्त फल मिल जायगा। कषायोको व्यक्त होनेमे आश्रयभूत कारण होना पडता है।

(६८) **अन्य पदार्थोंसे वेदना न होनेके तथ्यका दर्शन**—भैया, आश्रयभूतके तथ्यके ज्ञानसे यह सोचना चाहिए कि दुनियाभरके ये पदार्थ मुझको कष्ट नही देते, किन्तु मै ही इन पदार्थोंके बारेमे कल्पनायें बनाकर खुद कष्ट पाता हू। और इसी तरह अन्तरग निमित्तपर भी

दृष्टि दें तो वहां भी यह ही बात है कि उस निमित्तने मेरेको वेदना नही पहुचायी, किन्तु कर्मोदयके होनेपर प्रतिफलन तो होगा अनिवारित। अब उस प्रतिफलनमे, उस कर्मोदयके जाननेमे एक अपना लगाव बना लिया कि मैं यह हू, तो उसको कष्ट होने लगता है। तो बाह्य पदार्थ कोई भी मेरेको कष्टदायक नही है। मैं ही कल्पनायें करके अपनेमे कष्टका निर्माण किया करता हू। यह मोहभाव बडा दुर्निवार है। सारा संसार जन्ममरणके सारे सकट, चौरासी लाख योनियोमे परिभ्रमण, यह सब मोहका फल है, और मोह विकार है, परभाव है, अनर्थरूप है, इस मोह ससर्गसे मेरे आत्माकी भलाई नही है। तो उस मोहके दो भेद है—(१) दर्शनमोह, (२) चारित्रमोह। दर्शनमोहके दूर होनेपर सम्यक्त्वाचरण होता है और चारित्रमोहके दूर होनेपर सयमाचरण होता है। यहां इतना और समझिये कि चारित्रमोहमे जो अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ है, उसके दो स्वभाव हैं—चारित्रको विकृत करना और सम्यक्त्वाचरण न होने देना, यह अनन्तानुबधीका परिणाम है, शेष कषायोका फल चारित्रसे दिखता है। तो अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन ७ प्रकृतियोके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

दुविह सजमचरण सायार तह हवे णिरायार।
सायार सग्गथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायार ॥२१॥

(६६) सयमाचरणके भेद सागारसंयमाचरण व निरागार संयमाचरण—सयमाचरण दो प्रकारका है—(१) सागार (२) निरागार। सागारका अर्थ है—अगार मायने घर सहित, जो घर सहित है, गृहस्थ है उसके आचरणको कहते हैं सागार सयमाचरण अर्थात् सयमासयम, और जो निरागार है, आगार रहित है, गृहका त्याग है। गृहका त्याग कहनेसे सबका त्याग, स्त्री, कुटुम्ब, वैभव सबका त्याग जहाँ हो गया है उनके संयमको निरागार सयमाचरण कहते हैं। सयमाचरण सयमासयमसे शुरू हुआ है। पूर्ण संयमरूप आचरण तो नही है, पर एक देश सयमासयम बनता है। कुछ सयम है कुछ असयम है ऐसा जो परिणाम है वह कहलाता है सराग सयमाचरण और जहाँ ५ महाव्रत, समिति, गुप्ति आदिकका आचरण है, शरीर मात्र जहाँ परिग्रह रह गया है सो वह भी परिग्रह नही। शरीरसे विरक्त है, शरीरको पर जान रहे हैं, पर शरीर है और कोई परिग्रह जिसके नही है ऐसे निरागार मुनिके आचरणको निरागार सयमाचरण कहते हैं। घर छोडना तो वहाँ है ही नियमतः पर भावोसे घर छूटा हो तो वह निरागार कहलाता है। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई घरमे तो रह रहा हो और कहे कि मेरा तो घर छूटा है परिणाममे, मेरे तो घरका भी त्याग है परिणाममे, तो यह बात नही मानी जा सकती। घर छोडनेपर भी घर छूटा हो और न भी

छूटा हो, पर घरमे रहते हुए तो घर छूटा हुआ कहलाता ही नही है। तो जिन्होने भावोसे घर छोडा है और गृह आदिक भावोसे अत्यन्त विविक्त अविकार चैतन्यस्वरूप जो दृष्टिमे ऐसे पुरुषका जो आचरण है वह निरागार सयमाचरण कहलाता है।

(७०) आत्मामे सम्यक् संयमन— सयम शब्दका अर्थ है स यम, स मायने भले प्रकार, और यम कहो नियंत्रित हो जाना, मग्न हो जाना, इसका नाम है सयम। कहाँ मग्न होना? जो तत्त्व स्थिर हो उसमे मग्न होना। जो तत्त्व अपनेमे शाश्वत हो, उसमे मग्न होना, स्थिरता बाह्य पदार्थोंके उपयोगमे कभी हो ही नही सकती। जब भी स्थिरता मिलेगी तो अपने आपके स्वरूपमे मग्न होनेसे मिलेगी। पर पदार्थमे मग्न और आसक्त होनेसे क्यो स्थिरता नही होती उसके कई कारण हैं। एक तो वह पर पदार्थ है, मेरेसे अत्यन्त भिन्न है। अत्यत भिन्न पदार्थमे हम कब तक रम सकेंगे? फिर वे पदार्थ विनश्वर है, नष्ट हो जाते हैं, नष्ट हुए, पर फिर किसमे रमा जायगा? और फिर मेरेसे विपरीत स्वरूप है। मेरा स्वभाव है जानना और इन पदार्थोंका स्वभाव है मेरे जाननका अभावरूप। फिर स्थिरता कैसे हो सकेगी? किन्तु अपने आत्मतत्त्वको देखें तो अपनेमे यह शाश्वत प्रकाशमान ईश्वर है इसलिए इसके वियोगकी सम्भावना ही नही। उपयोग चाहे अपने स्वरूपको न देखे, अन्य जगह रमे मगर रम्य यह पदार्थ मात्र स्वरूप मेरेमे शाश्वत बना हुआ है। तो अपने आपमे रमे तो स्थिरता आती है, बाह्य पदार्थोंमे रमे तो स्थिरता नही आती। तो उपयोगकी स्थिरताके लिए विवेकी जनोने घर आदिक समस्त प्रसगोका त्याग कर दिया और अपने आपके स्वरूपमे सतत निवास करनेका पौरुष करते है, तो यह बात सम्यक्त्वाचरण पर होती है। जो प्रकाश सहित हैं उनमे याने गृहस्थीमे यह सयम एक देश रहता है, और जो परिग्रहरहित हैं, मुनि हैं उनमे सयम सर्वदेश रहता है।

दसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य।
बभारभ परिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य॥ २२॥

(७१) सागारसयमाचरणके ११ प्रकार— सम्यक्त्वाचरणके बाद सयमाचरणका विवरण चल रहा है। सयमाचरण दो प्रकारके बताये गए—(१) सागार सयमाचरण और (२) निरागार सयमाचरण। गृहस्थोका जो सयमासयम रूप आचरण है उसे सागार सयमाचरण कहते है। तो सयमासयमके ११ भेद है, जिन्हे ११ प्रतिमायें कहते हैं—(१) दर्शनप्रतिमा, (२) व्रतप्रतिमा, (३) सामायिक प्रतिमा, (४) प्रोषधोपवास प्रतिमा, (५) सचित्तत्याग प्रतिमा, (६) रात्रि भुक्तित्याग प्रतिमा, (७) ब्रह्मचर्य प्रतिमा, (८) आरभत्याग प्रतिमा, (९) परिग्रहत्याग प्रतिमा, (१०) अनुमतिविरति प्रतिमा, (११) उद्दिष्टत्याग प्रतिमा, ये ११

प्रकारके संयमासयम हैं । ये प्रतिमायें पंचम गुणस्थानमे होती हैं, जिनका नाम है देशविरत यान पापोसे एकदेश विरक्त होना, अव्रतोसे एकदेश निवृत्त होना । अव्रत होते है १२, जिनका नाम है अविरति—६ काय अविरति, ६ विषय अविरति । (१) पृथ्वीकाय, (२) जलकाय, (३) अग्निकाय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रस काय । इन ६ कायोकी हिंसाका त्याग होना सो यह ६ काय अविरति है । इस ६ काय अविरतिमे से त्रस काय अविरतिका त्याग है सागार सयमाचरणमे, पर एकेन्द्रियके जो ५ काय है उनके घातका त्याग गृहस्थीमे नही चल सकता । भोजन बनाना तो जल, अग्नि, वायु, वनस्पति । इनकी अविरति नही चल सकती । कभी मिट्टी भी लाते, जल भी खीचते । तो ५ काय अविरतिका यहां त्याग नही है, और विषय अविरति हैं ६—(१) स्पर्शनइन्द्रिय विषय अविरति, (२) रसनाइन्द्रिय विषय अविरति, (३) घ्राणइन्द्रिय विषय अविरति, (४) चक्षुइन्द्रिय विषय अविरति, (५) कर्णइन्द्रिय विषय अविरति और (६) मनोविषय अविरति । ५ इन्द्रियके विषयोसे विरक्त न होना, इन विषयोका त्याग न कर सकना, मनके विषयोका त्याग न होना, ये ६ विषय अविरति हैं । तो गृहस्थके इन ६ विषय अविरतिका वह त्यागी नही होता । तो इस प्रकार देशसयत गुणस्थानमे ११ अविरत रहने है । और इन ११ अविरतियोका उत्तरोत्तर त्याग चलता रहता है और अन्तमे अत्यन्त सूक्ष्म रह जाता है यह अव्रती । तो इस प्रकार सराग सयमाचरणमे ११ प्रतिमाके भेद हैं । अब इनका क्या लक्षण है सो अगली गाथामे कह रहे हैं ।

पचेव अणुव्वयाइ गुणव्वयाइ हवंति तह तिण्णि ।
सिक्खावय चत्तारि य सजमचरण च सायार ॥२३॥

(७२) सागारसंयमाचरणमे बारह व्रतोका निर्देश—इस सयमाचरणमे १२ व्रत होते हैं—५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत । सागार सयमाचरणमे ये १२ व्रत हैं । ५ अणुव्रतोमे (१) प्रथम नाम है अहिंसाणुव्रत (२) सत्याणुव्रत (३) अचौर्याणुव्रत (४) ब्रह्मचर्याणुव्रत (५) परिग्रह परिमाणाणुव्रत । गुणव्रतमे हैं दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदड व्रत । शिक्षा व्रतमे है समायिक प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथिसम्विभाग । इन १२ व्रतो के कारण यह अव्रती कहलाता है । पर एक प्रश्न यहां होता है कि ये १२ व्रत दर्शनप्रतिमा मे होते नही, फिर दर्शनप्रतिमाको सराग सयमाचरणमे क्यो गिना । दर्शनप्रतिमाका अर्थ है निर्दोष सम्यग्दर्शन होना । तो सम्यक्त्वाचरण रहा आये पर सरागसयमाचरण कैसे रहा ? तो उत्तर उसका यह है कि यद्यपि दर्शन प्रतिमामे निरतिचार १२ व्रत नही होते । निरतिचार ५ अणुव्रत नही होते मगर ५ अणुव्रतकी प्रवृत्ति रहती है । निरतिचार अणुव्रत न रहनेसे पहली

प्रतिमाको व्रती नही कहा फिर भी ५ अणुव्रतकी प्रवृत्ति होनेसे यह सराग संयमाचरणमे लिखा गया है, क्योकि प्रथम प्रतिमामे अणुव्रतको चलता है मगर अतिचार सहित चलता है। व्रत तो वह कहलाता है जो निरतिचार चले। अतिचार भी चले और पालन करे तो उसे प्रतिमा नाम नही दिया जा सकता या प्रतिमारूप नही कहा जा सकता। तो अतिचार शब्द अणुव्रत होनेसे पहिली प्रतिमा वाला व्रती नही लिया, अणुव्रत होनेसे उसको व्रती उपचारसे कहते है। और सराग सयमाचरण तो उसके आ ही गया अतएव सराग सयमाचरणमे दर्शन प्रतिमा आ हो गई। दर्शन प्रतिमामे मद्य, मास मधुका निरतिचार त्याग है अर्थात् मद्यका भी दोष न लगे, इसी कारण तम्बकू जैसी चीजका भी यहां त्याग रहता है अथात् मासका कोई दोप भी सूक्ष्म न लगना चाहिए। और इसी कारण भोजन करनेकी बात यहाँ आ जाती है। जिन जिन दिनोमे आटा ७ दिनका कहा, ५ दिनका कहा, ३ दिनका कहा, ऐसे हो सब चीजोमे मर्यादा सहित वह रसोई बनायगा, खायगा। मधुत्याग यह भी अतिचार दूर करके त्याग है और पच उदम्बर फलोका त्याग, ५ अणुव्रतकी प्रवृत्ति, और जीवदया, जलगालन, रात्रिभोजन त्याग, देवदर्शन यह भी दर्शन प्रतिमामे नियत है। देवदर्शनका अथ है प्रभुका ज्ञानमे अवलाकन करना। यदि कही मंदिर है ता वहाँ जाकर आराधना करें और कही मदिर नही है, यात्रा मे नही मिल रहा मदिर तो वहां बडे भक्तिभावसे वदन करता, जाप करता, स्मरण करता है। तो इस प्रकार दर्शन प्रतिमामे अहिंसाका त्याग है और ७ व्यसनोका भी पूरे रूपसे त्याग है। तो यह दर्शन प्रतिमाका धारण करने वाला जीव भी अणुव्रती कहलाता है। अब ५ अणुव्रतका स्वरूप बतलाते हैं।

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले य।
परिहारो परमहिला परग्गहारभ परिमाण ॥ २४ ॥

(७३) **सागारसयमाचरणमे अहिंसाणुव्रत**—पहला अणुव्रत है अहिंसाणुव्रत। इसमे त्रस कायके घातका त्याग है और वह भी स्थूल है। स्थूलके मायने यह है कि चार प्रकारकी हिंसा कही गई है—(१) संकल्पी, (२) आरभी, (३) उद्यमी और (४) विरोधी। किसी जीव को इरादा करके मारना संकल्पी हिंसा है। रसोई बनानेमे, बुहारी देनेमे, पानी लानेमे, धान आदिक कूटनेमे, चक्की पीसनेमे, इस गृहसबधी आरभमे बचाव करके भी, दु ख भूलकर प्रवृत्ति करके भी जो हिंसा होती है वह आरभी हिंसा है। उद्यमी हिंसा—देखकर सावधानीसे व्यापार करते हुए भी जो हिंसा होती है वह उद्यमी हिंसा है। विरोधी हिंसा—कोई जीव सिंह आदिक या डाकू आदिक जान लेने आया हो उस समय इसके पास शस्त्र हो, बदूक हो तो उन सबके प्रयोगोसे अपना बचाव करता है। ध्येय उसका अपने प्राण बचानेका रहता है,

उसको मारनेका विचार नही रहता, पर बचाव करनेमे तो युद्ध जैसा तन जाता है। उसमे यदि कोई दूसरा जीव मर जाता है तो वह है विरोधी हिंसा। गृहस्थके सकल्पी हिंसाका त्याग है। शेष तीन हिंसाओका त्याग नही बन सकता, इस कारण कह रहे है कि सागारके स्थूल त्रस कायवधका त्याग है।

(७४) सागारसंयमाचरणमे सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत व परिग्रहारंभ परिमाणव्रत—स्थूल झूठका त्याग। गृहस्थ ऐसा झूठ नही बोल सकता कि जिसमे दूसरे जीवका अहित हो, प्राणवध हो. हितमित, प्रिय वचन बोलेगा, मगर कभी-कभी अच्छे इरादेके कारण थोडे शब्द विपरीत भी बोल जाय तो उसका यह अणुव्रत भग नही होता। जैसे कुछ परिस्थितियाँ आ सकती हैं कि कोई कसाई किसी गायको मारने जा रहा था, पकडे जा रहा था और वह गाय छूट गई और गाय तेजीसे आगे भग गई। मानो उसको आगे भागकर जाते हुए किसीने देखा, वहा वह कसाई रुका और पूछने लगा—क्या तुमने हमारी गाय इधर जाते देखी? तो उस व्यक्तिने समझ लिया कि यह कसाई है, यह उस गायको जानसे मारना चाहता है, सो यह बात समझकर वह कुछ भी बोल दे—मुझे नही मालूम या मैंने नही देखा, तो ऐसा बोलनेमे उसे अणुव्रतमे दोष नही आता। पहले स्थूलमृषाका त्याग, यहाँ कहा गया है स्थूल चोरीका त्याग, जिसमे पब्लिकका हित हो। पडोसीकी चीज न चुराये, ऐसी स्थूल चोरीका त्याग है। स्थूल कुशीलका त्याग याने अपनी स्त्रीको छोडकर पर स्त्री वेश्या आदिक सबके गमन आगमनका त्याग है इसलिए यह ब्रह्मचर्याणुव्रत कहलाता है। ५ वाँ है परिग्रहारम्भप्रतिमाणुव्रत याने परिग्रहका भी परिमाण और आरम्भका भी परिमाण। इतने से अधिक परिग्रह न जोडना और इतनेसे अधिक आरम्भ न करना ये ५ अणुव्रत हैं जिनका यह व्रत प्रतिमाधारी निर्दोष पालन करता है। इन व्रतोको कोई राजाकी आज्ञासे करे तो वह व्रत नही कहलाता। अपने भीतरके विरक्त परिणामसे करे तो व्रत कहलाता। अब तीन गुणव्रतोको कहते हैं।

दिसिविदिसिमाण पढम अणत्थदंडस्स वज्जण विदिय।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २५ ॥

गुणव्रत नाम है जो गुणोका उपयोग करे सो व्रत। अहिंसा आदिक जो ५ अणुव्रत हैं उन अणुव्रतोकी जो वृद्धि करे उसे कहते हैं गुणव्रत। इसमे पहले गुणव्रतका नाम है दिशाविदिशा परिमाण गुणव्रत। दूसरा गुणव्रत है अनर्थदण्ड त्याग गुणव्रत। तीसरे गुणव्रतका नाम है भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत। गुणव्रतके तीन नाम प्रसिद्ध ये भी पाये जाते है—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दण्डव्रत। इनमे भोगोपभोग परिमाण छूटा है, सो यह लिया होगा चार शिक्षा

व्रतोमे और यहाँ भोगोपभोग परिमाण व्रतको गुणव्रतमे लिया है। तो दिग्व्रत और देशव्रत ये एकमे शामिल कर लिया है। तो दिग्व्रतका अर्थ है जीवन पर्यन्त चारो दिशाओ विदिशाओ मे परिमाण कर लेना कि मैं इससे अधिक न जाऊँगा, न सम्बन्ध रखूगा, यह है दिग्व्रत, और कुछ समयकी मर्यादा लेकर उस दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर और भी सूक्ष्म मर्यादा लेकर जैसे मैं इन दशलक्षणके दिनोमे इस शहरसे बाहर न जाऊँगा या सुबह तीन घटे तक इस मदिरसे बाहर न जाऊँगा ऐसा कुछ सूक्ष्म परिमाण कर ले तो वह देशव्रत कहलाता है। यहाँ इन दोनोको एकमे शामिल किया है। अनर्थ दडव्रतका त्याग करना। बिना प्रयोजन जो पाप होना है उसका त्याग याने जो त्यागने योग्य पाप है, घात है उसका तो प्रयोजन होनेपर भी न करना, मगर जिन पापोका त्याग नही हो पाया उनमे भी इतना बचाव रखना कि बिना प्रयोजन उनकी हिसा न करना। जैसे गृहस्थक जलकाय अविरतिका त्याग नही है तो श्रावक ऐसा प्रवृत्ति न करेगा कि १० २० बाल्टियोसे नहा रहा है या वनस्पतिकाय अविरतिका त्याग नही किया तो वह बिना प्रयोजन पत्तोको तोडना आदि ऐसे कार्य न करेगा।

तो ऐसा अनर्थदंड बताया जायगा, उन अनर्थदडोका त्याग करना अनर्थदण्ड व्रत है। ये अनर्थ दण्ड ५ प्रकारके होते हैं—पाप उपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुश्रुति और प्रमादचर्या। पाप उपदेश अनर्थदण्ड है। जिस उपदेशसे पापकी बात आती हो, जैसे कहना कि अमुक प्रान्तमे अच्छी भैसे है और अमुक प्रान्तमे ले जानेसे वहाँ बेचनेसे लाभ होगा, वह है ३००-४०० मील दूर जगह। यहाँसे जायेंगी, भूखी-प्यासी रहेगी तो उनको कष्ट होगा। तो पशुओका व्यापार या अन्य कोई व्यापार जिसमे हिंसा हो ऐसे व्यापारका उपदेश करना पापोपदेश है। इस अनर्थदण्डका त्याग सागार सयमाचरणमे होता है। हिंसाज्ञानपाप कहते है हिंसाकी चीजको देना। हिंसाकी चीजें तो प्रायः सभी हैं, मुख्यतया तलवार, बदूक, बरछी, छुरी आदिक हिंसाकी चीजें है। आग भी हिंसाका साधन है। कुल्हाडी, चाकू आदिक ये सब हिंसाके साधन है। अगर यह गृहस्थ परख लेगा कि यह जो पुरुष चाकू चाह रहा, आग चाह रहा तो यह अपने कार्यके लिए तो वह ये चीजें न देगा। और अगर समझ लिया कि रोटी बनानेका समय है, तो उस समय वह अग्नि भी दे देगा, शाक-सब्जी, फल वगैरा काटनेकी दृष्टिसे चाकू भी दे देगा। अगर किसीने कुदाली मांगी तो वह पहले यह जान लेगा कि कही केंचुवा वगैरा खोदनेके लिए तो नहीं मांग रहा। यदि किसी अच्छे कामके लिए कुदाली आदि मांग रहा तब तो दे देगा, नही तो न देगा। तो इन हिसाके साधनोका त्याग करना हिसाज्ञान त्याग है अपध्यान अनर्थदण्ड कहलाता है। दूसरोका अनिष्ट चिन्तन करना, अमुक को टोटा पडे, इसका धन चोर लूट ले जायें, इसकी स्त्री गुजर जाय, इसका यो हो जाय, यो

अनेक प्रकारका खोटा चिन्तन करना अपध्यान है। उसका त्याग अपध्यान अनर्थदंड कहलाता है। दुश्रुति अनर्थदण्ड कहलाता है रागभरी द्वेषवर्द्धक बातका सुनना। इसका यहां त्याग रहता है। स्त्रीकथा, कामभरी कथा ऐसी न सुनेगा कि जिससे काम क्रोधादिक कषायोकी उत्तेजना मिले। ५वां अनर्थदण्ड व्रत है प्रमादचर्या त्याग। प्रमाद वाली बात न करना, हिंसा के साधन न रखना, जैसे तोता, बिल्ली, मैना, कुत्ता वगैरा पालना, ये काम व्रती पुरुष नही कर सकता। तो ऐसे ५ अनर्थदण्डोका त्याग है और ४ शिक्षाव्रत हैं जिनका वर्णन चलेगा।

यहां गुणव्रतमे भोगोपभोग लिया गया है जिसका अर्थ यह है कि भोग और उपभोग की चीजका प्रमाण कर लेना। जो वस्तु एक बार भोगनेमे आये, फिर कामकी न रहे उसे कहते है भोग और जो वस्तु अनेक बार भोगनेमे आये उसका नाम है उपभोग। जो धोती, कमीज, टोपी छतरी, पलग आदि रोज-रोज काममे आते हैं ये तो उपभोग है और जो एक ही बार काममे आये, जैसे तल एक ही बार लगा लिया तो वह दुबारा काम नही आता कि किसीके शरीरका तल पोछकर कोई दूसरा लगाये। तो वह तेल काममे नही आता अथवा जैसे फूलोका माला किसीके गलेमे पहना दी गई तो उसे दूसरा नही पहिन सकता। भले ही कोई दूसरेकी माला पहिन ले तो वह बात उसकी एक दरिद्रताकी समझो, मगर वह भाव नही बनता। भोजन करनेकी बात ले लो, किसीने भोजन किया तो उस भोजनको कोई दुबारा नही ले सकता। तो ऐसी चीज जो एक बार भोगनेमे आये दुबारा भोगनेमे न आये वह है भोग। जैसे किसीके स्नान किए हुए जलसे कोई दूसरा स्नान नही कर सकता, यह भी भोग हुआ, और जो बार-बार भोगनेमे आये सो उपभोग। भोग और उपभोगके परिमाण का प्रयोजन यह है कि उसमे हिंसा टल जाय। भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनो ही हिंसा होती है। तो द्रव्यहिंसा टले यह तो बात स्पष्ट है कि जितना कम आरम्भ होगा, जितनी कम वस्तुओका सग्रह होगा उतना ही हम हिंसासे बचे रहेगे और भोगोपभोगकी चीज कम रखनेमे भावहिंसाका त्याग यो है कि उसके सबबमे विकार नही जग रहा, बहुतसे भोगसाधनोका संचय करे तो उतना ही विकार राग बढता जायगा। विकार राग बढेगा तब ही तो भोगोका सग्रह करता है। अनेक उपभोगकी चीजें रखी तो वे किस कामकी। मान लो कई कमरे सजा दिए, कई बैठकें बना दी केवल शौकके लिए तो उससे क्या लाभ? हां जिसका कोई ऐसा व्यापार है कि कई बैठकें चाहिएँ ही तो वह तो उसके प्रयोजनमे आ गया, मगर बिना प्रयोजन अनेक चीजोका सग्रह करे तो उसमे भावहिंसा नही टलती। अनेक पुरुषोकी आदत है चीजोका सग्रह करते रहना और यह सोचना कि कभी काम आयेंगी, उनके किसी एक कमरेको देखो तो ऐसी चीजें पडी रहती है कि कई वर्षोंसे रखी हुई खराब भी हो जाती, पर

इनका परिहार नही कर पाते कि उन्हें चलो बेच ही दिया जाय। सो उसे लोभ रहता है कि यह इतनी कीमतकी वस्तु है, इसे कैसे बेच दिया जाय ? तो अनेक निष्प्रयोजन चीजोका सग्रह जो कभी काममे भी नही आ सकती, उन भोगोपभोगका परिमाण करना और उस परिमाणसे अधिक भोगोपभोगके साधनोको न रखना सो यह कहलाता है भोगोपभोग परिमाण व्रत । इस प्रकार इस गाथामे तीन गुणव्रतोका वर्णन किया । अब चार शिक्षाव्रतोका वर्णन करेंगे ।

सामाइय च पढम विदिय च तहेव पोसह भणिय ।
तइय च अतिहिपुज्ज चउत्थ सल्लेहणा अते ॥२६॥

सागार संयमाचरणमे १२ व्रत बताये गए है जिनमे ५ अणुव्रत और ३ गुणव्रतोका वर्णन हो चुका । अब इस गाथामे ४ शिक्षाव्रतोका वर्णन किया जा रहा है । शिक्षाव्रत ४ हैं—(१) सामायिक, (२) प्रोषध (३) अतिथिपूजा और अन्तमे (४) सल्लेखना। शिक्षाव्रतका अर्थ है कि ऐसा व्रत जिसमे मुनिधर्म धारण करनेकी शिक्षा मिले । कुछ प्रयोग करके ऐसा समझे कि मुनि अवस्थामे यह करना होता है, ऐसे व्रतोका नाम है शिक्षाव्रत । सामायिकका अर्थ है रागद्वेषका त्याग करना, गृहस्थारभका त्याग करना, एकान्त स्थानमे बैठ कर दोपहर और शाम कुछ कालकी मर्यादा लकर अपने स्वरूपका चितवन करना, पञ्च परमेष्ठीकी भक्ति करना, कोई स्तवन पाठ आदिक पढना, बारह भावनाये भाना और परमविश्राम का पौरुष करना, जिससे आत्मा अपने आपके स्वरूपमे ठहर सके, यह सब सामायिक है ।

प्रोषधका अर्थ है अष्टमी और चतुर्दशीके दिन कुछ प्रतिज्ञा लेकर उपवासकी, अनुपवासकी, धर्म कार्योंमे प्रवृत्ति करते रहना इसका नाम है प्रोषध । मुनि अवस्थामे रागद्वेषका त्याग कर समता पूर्वक रहना होता है सो जो श्रावक है, उपासक है वह मुनिधर्मकी उपासना करता है कि मेरे मुनिव्रत होवे, सयमरूप प्रवृत्ति होवे तो वह इस सामायिक शिक्षाव्रतसे मुनिव्रतकी शिक्षा ग्रहण कर रहा । इसी तरह मुनिव्रतमे एक बार भोजन करके रहना होता है । उपवास भी करना होता तो एक बार ही भोजन करके रहते और उपवास कर लेते, ऐसी शिक्षा पानेके लिए यह प्रोषध शिक्षाव्रत है, जिसमे उत्कृष्ट विधि है यह कि सप्तमी नवमीको केवल एक बार भोजन करना दूसरी बार कुछ भी न लेना और अष्टमीको उपवास रखना और मध्यम प्रोषध यह है कि सप्तमी और नवमीको एक बार आहार लेना, शामको कुछ न लेना, किन्तु अष्टमीको गर्म जल ले लेना और जघन्न प्रोषधमे सप्तमी और नवमीको शामको कुछ भी न लेना पर अष्टमीको एक बार कुछ रस परित्याग करके ले लेना । तो इसमे मुनिव्रतकी शिक्षा मिली कि मुनिव्रतमे एक बार ही आहार सदैव रहता है और बीचमे उपवास भी रहता है । तीसरा शिक्षाव्रत है अतिथिपूजा । अतिथि नाम है साधुवोका जिनकी कोई तिथि

निश्चित नही है कि कब दर्शन हो, कब आ जायें। पहले समयमे उन साधुवोके आनेके प्रोग्राम निश्चित नही हुआ करते थे और न पम्पलेटमे खबर आती थी कि अमुक दिन आ रहे और अमुक समयमे अमुक जगह मिलेंगे ऐसा कुछ न था, तब ही उनका नाम अतिथि सार्थक है। और अगर आजकलकी भाँति पम्पलेटमे अपना सारा प्रोग्राम देकर आयें तो उन्हे अतिथि न कहेगे, वे तो सतिथि हो गए। मुनि होते है विरक्त परिणामी, जिनका कोई वायदा नही होता लौकिक कार्योंके लिए, वायदा भी कैसे करें ? वायदा किया और अप्रमत्त दशा हुई, अपने आपके ध्यानमे लग गए, वायदा भूल गए। उनका तो केवल आत्माका वायदा रहता है। वे अपने आत्मस्वरूपको नही भूलते बाकी बाहरी बानोका वायदा इस कारण नही करते कि लौकिक बात मनसे निकल जायगी। तो वे है अतिथि साधु। उनका सत्कार, पूजा भक्ति, आहारदान, सेवा ये सब अतिथिसेवा कहलाती हैं। सो व्रतप्रतिमा धारियोका यह प्रतिदिनका कर्तव्य है कि कोई अतिथि मिलें तो उनकी हर प्रकारसे सत्कार, सेवा, वैयावृत्ति आदिक करना।

चौथा शिक्षाव्रत है अन्तमे सल्लेखना धारण करना। बारह व्रतोका या इन १८ व्रतोका पालन निर्दोष किया और जब अन्त समय आया तो वहाँ मृत्युमहोत्सव मनाना, खेद न करना और काय कषायको कृष करते हुए अपने आत्माके स्वभावकी आराधना रखते हुए इस शरीरको छोडकर जाना, यह कहलाता है अन्त समयमे सल्लेखनाका धारण करना। इन दोनो व्रतोसे भी मुनिपदमे रहनेको कुछ शिक्षा मिलती है। अतिथिपूजासे तो यह जानना है कि इस तरहसे आहार लिया जाना है, आहार देकर आहार लेना समझे। यद्यपि केवल इस प्रयोजनके लिए ही अतिथिपूजा नही है यह तो स्वभावके अनुरागका फल है, पर उसके साथ-साथ मुनिव्रतके लिए भी शिक्षा मिल जाती है और सल्लेखनाव्रतसे अतिम सल्लेखनाके भावमे यह ध्यानमे रहता है कि यह सल्लेखना अर्थात् कषायोको मिटाकर रहना और आत्माके स्वभावमे दृष्टि होना यह तो सदा होना चाहिए। एक आहार आदिकका त्याग तो अन्तमे किया जाता है। कषायोका कृष करनेका कार्य तो सदा करना चाहिए। ये ४ शिक्षाव्रत बताये गए। अब यहाँ एक बात समझनेकी है कि अनेक ग्रन्थोमे शिक्षाव्रतमे सल्लेखना नही दी है, किन्तु सल्लेखना अलगसे बतायी गई है। कर्तव्य तो वह भी है, मगर बारह व्रतोसे अलग उसका निर्देश किया है। और इसके बजाय भोगोपभोग परिमाणव्रत कहा है। जिसको कि इस ग्रथमे गुणव्रतमे गर्भित किया है। तो ऐसा दो प्रकारका लेख होनेसे कोई विरुद्ध बात नही आती। बात तो वही करनेकी सब है जो अन्य जगह भी बताया है। बारह व्रत और सल्लेखना, सो ये १३ बातें यहाँ भी बतायी गई हैं। यहाँ इस क्रमसे बताया है कि देशव्रतको दिग्व्रतमे ही

गर्भित कर दिया, सिर्फ कालका फर्क है, दिग्व्रत तो आजीवन है और देशव्रत कुछ समयकी अवधिपूर्वक है, पर जाने आनेका परिमाण दोनोमे है । तो देशव्रतको तो दिग्व्रतमे गर्भित किया और बजाय उसके भोगोपभोग परिमाण दिग्व्रतमे ले लिया । तो यहाँ शिक्षाव्रतमे अन्त काल मे सल्लेखना ग्रहण कर लिया । तो इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत बताये गए हैं सो ये बारह व्रत श्रावकके सयमाचरणमे बताये गए ।

एवं सावयधम्म सजमचरणं उदेसियं सयल ।
सुद्ध सजमचरण जइधम्म णिक्कल वोच्छे ॥२७॥

उक्त स्थलमे श्रावकधर्मका वर्णन किया है, उसे लक्ष्यमे लेकर आचार्यदेव कहते हैं कि इस प्रकार श्रावकधर्म सागार सयमाचरण सब बता दिए गए है । अब मुनिका धर्म जो सयमाचरण है, सकल संयमाचरण है उस यती धर्मको अब कहेगे । श्रावकधर्म और मुनिधर्ममे एकदेश और सर्वदेश सयमकी बात है । श्रावकधर्ममे एकदेश सयम है, मुनिधर्ममे सर्वदेश सयम है । श्रावक गृहस्थीमे रहता है तो उसकी बाहरी क्रियायें कुछ अन्य तरहकी बन जाती हैं और मुनिको कोई आरभ परिग्रह रहे ही नही इस कारण उसकी व्रनि अन्य प्रकारकी होती है, पर अन्तरग देखा जाय तो जो श्रद्धा मुनिकी है ही श्रद्धा श्रावककी है और इस श्रद्धाके बलसे दोनोकी जो क्रियायें चल रही हैं वे सब सही क्रियायें कहलाती हैं । तो श्रावकधर्म बारह व्रत रूपका वर्णन तो कर चुका है, अब यहाँ निष्फल सयमाचरण बतलाते हैं । निष्फल का अर्थ है—काल मायने खण्ड, भेदरहित मायने परिपूर्ण सर्वदेश विरति बतलाते हैं । यह यती धर्म शुद्ध है, निर्दोष है, ५ पापोका सवथा त्याग है, इस कारण किसी क्रियामे इसकी तुलना नही चला करती । जैसे श्रावकधर्ममे प्रवृत्तियोका, तुलनाका अध्ययन किया जाता है कि यह उसकी अपेक्षासे अणुव्रत है, इस अपेक्षासे व्रत है । मुनिधर्ममे तो सर्वदेश त्याग है, वहाँ तो परिपूर्ण ही त्याग होना चाहिए । ऐसे सकल सयमाचरणका अब वर्णन करते हैं ।

पचेंदियसंवरण पंच वया पंचविसकिरियासु ।
पच समिदि तय गुत्ती सयमचरणणिरायार ॥२८॥

मुनिकी २५ क्रियायें क्या होती हैं—५ इन्द्रियका सम्वरण, ५ व्रत, ५ समिति, ३ गुप्तिया यह निरागार सयमाचरण है । और यह भेद मुनिके २५ क्रियावोंके सद्भाव होने पर होता है । अतरगमे तो २५ भावनायें हैं, प्रत्येक व्रतकी ५-५ भावनायें है जिनका वर्णन आगे आयगा । ये २५ भावनायें मुनिके रहा करती है । उनमे किसी भी भावनाकी कमी नही रहती । सागार संयमाचरणमे भी ये २५ भावनायें बतायी हैं, किन्तु मुनिव्रतमे तो ये २५ भावनायें पूर्ण होनी ही चाहिएँ, निर्दोष होनी ही चाहिएँ । तो इन २५ भावना-

श्रोके होते सन्ते ये व्रत भली भाँति पलते हैं। ये ५ महाव्रत, ५ समिति ३ गुप्ति १३ श्रोर व्रत, इस प्रकारकी भी २५ तरह की वृत्तियाँ मुनिके होती है। तो यती धर्ममे ५ इन्द्रियाँ सवरण है, जिनका स्वरूप आगेकी गाथाम कहा जायगा। मुनिके ५ महाव्रत होते है—हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन ५ प्रकारके पापोका पूर्णतया त्याग होता है। सो ५ महाव्रत कहलाते हैं। इसका भी निर्देश आगे किया जायगा। ५ समितियाँ मुनिकी विशेषतासे होती हैं—(१) चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना, (२) सूर्यका प्रकाश होने पर चलना (३) अच्छे कामके लिए चलना, (४) अच्छा भाव रखते हुए चलना, ये चार बातें ईर्यासमितिमे हुआ करती है। भाषासमितिमे हितमित प्रिय वचन बोलना होता है। मुनिके रूपको देखकर कोई भय नही करता जैसे कि भष्मधारी, जटाधारी, शस्त्रधारी अनेक तरह का रूप सग रखने वाली सन्यासीको देखकर साधारण लोगोको भय उत्पन्न होता है। पर मुनिको देखकर साधारण बच्चेको भी भय नहीं होता। इसका कारण यह है कि मुनिका रूप केवल शरीरमात्र है। वह अन्य वस्तुको ग्रहण करके रूप बिगाडता नही है। जिसके हाथमे शस्त्र नही है उससे लोगोको डर कैसे उत्पन्न हो जायगा? जिसके वचन हित मित प्रिय निकलते हैं, जिनको सुनते ही उपासक साधुकी भक्ति बन जाती है। तो इन समितियो रूप प्रवृत्ति होनेसे मुनि अभयके स्थान होते हैं। भाषासमितिमे हितकारी वचन बोलना, जिससे दूसरे जीवोका हित हो। मुनिके दूसरोका अहित करनेका भाव कभी आता ही नहीं है, उन्हे तो अपने आत्माके उद्धारकी पडी हुई है। वे फाल्तू नही हैं जो दूसरे मनुष्यो के प्रति फाल्तू बात सोचा करें। ये हितकारी वचन बोलना इसको पसंद नही है, पर किसी काममे बोलना ही पडे तो बोलता है पर परिमित वचन बोलता है और साथ ही उनके वचन प्रिय होते हैं, क्योकि मुनिको अप्रिय बोलनेका प्रयोजन ही क्या है? तो ऐसे हितमित प्रिय वचन बोलना भाषासमिति है।

आदाननिक्षेप समिति—सयमके उपकरण, ज्ञानके उपकरण ,पुस्तक आदिक देख-भालकर उठाना और धरना पीछीसे पोछकर ताकि किसी जीवको बाधा न हो। वह अपने प्रयोजनकी वस्तु कमण्डल, पीछी, पुस्तक आदिको उठाता है और रखता है। एषणा समिति—शुद्ध निर्दोष निरतिचार आहार लेना, भ्रमण करके, भिक्षावृत्तिसे अर्थात् जिस श्रावकने विनयपूर्वक निवेदन किया, पडगाहा वहा सविधि आहार कर लेना। ५वी है प्रतिष्ठापना समिति— मल मूत्रादिकका क्षेपण जहा करना है उसको पहले शोध लना कि वहा कोई जतु न हो और उनको बाधा न पहुचे यह है प्रतिष्ठापना समिति। तो ५ समितिरूप प्रवर्तन मुनिराजके बताया है। तीन गुप्ति भी मुनिराजके आवश्यक कर्तव्यमे मन, वचन, कायकी

प्रवृत्ति करना, मनको वश करना, किसीका बुरा न सोचें। सबका भला सोचें और नही तो मनकी क्रिया पसद नही है इस कारण केवल आतमतत्त्वका मनन करना. वचन कदाचित् बोलना ही पडे तो अत्यन्त कम और आत्मसबन्धित वचन बोले और शेष समय मौन भावसे रहे। कायगुप्ति—शरीरको वश करना। शरीरकी चेष्टा कुछ बनानी ही पडे तो शुभ चेष्टा धर्मबुद्धिपूर्व चेष्टा होना। तो इस प्रकार मुनिव्रतमे ५ इन्द्रियका निरोध, ५ व्रत, ५ समिति और ३ गुप्ति, ये निरागार सयमाचरण बताये गए हैं।

अमनोज्ञे च मनोज्ञ सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च।
न करोति रागद्वेषौ पचेंद्रियसवर भणित. ॥२९॥

इस गाथामे ५ इन्द्रियके निरोधकी बात कही गई है। इन्द्रियके विषय ५ है—स्पर्शन इन्द्रियका विषय स्पर्श, रसनाइन्द्रियका विषय रस, घ्राणेन्द्रियका विषय गध, चक्षुइन्द्रियका विषय रूप और कर्णइन्द्रियका विषय शब्द है। ये पाचो विषय यदि मनोज्ञ हैं, आकर्षक है तो भी उनमे प्रीति भाव न लाना, बेहोश न होना, उन्हीको सब कुछ न समझना। और यदि वे सभी विषय अमनोज्ञ हैं अरुचिकर हैं, खोटे हैं, दुःख दे सकने वाले हैं तो उसमे भी अरति न करना, द्वेष और ईर्ष्या न करना, यह है ५ इन्द्रियके सम्वरणका उपाय। यदि इष्ट विषयमे भी प्रीति गई तो वह इन्द्रियसे सम्बन्ध भी स्वच्छद है और उसकी धारा ऐसी बनती है कि इन्द्रियको स्वच्छदता बढती चली जाती है। तो इन विषयोंमे रागद्वेष न करना सो पचेन्द्रिय सवरण कहलाता है।

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य।
तुरिय अबभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥ ३० ॥

(७५) पञ्च महाव्रतोंका निर्देश—५ व्रतोका स्वरूप इस गाथामे कहा है। मुनिका प्रथम पद है अहिंसा महाव्रत, धर्मका परिपूर्ण पालन। सकल्पी, उद्यमी, आरभी और विरोधी, इन चार प्रकारकी हिंसाओका त्याग अहिंसा महाव्रतमे है। सागार सयमाचरणमे संकल्पी हिंसाका त्याग था, पर आरभी, उद्यमी, विरोधी हिंसाका त्याग न कर सका। अब मुनि अवस्थामे चूकि उसके मोक्षमार्गमे प्रगति हुई है तो यहाँ सर्व हिंसाओका त्याग है, अपने मे अविकार भावका असर होना और विकार रहित परिणति होना यह है वास्तविक हिंसा महाव्रत और इसके होते सन्ते बाह्य अहिंसा महाव्रत तो पालता ही है। दूसरा महाव्रत है सत्य महाव्रत—सत्य ही वचन बोलना, किसीको कष्ट न पहुचे, ऐसा भाव बनाये रहना, यह है सत्य महाव्रत। तीसरा है अचौर्य महाव्रत। अदत्त विरति—दूसरेके द्वारा प्रीतिपूर्वक न दिए गए द्रव्यको न लेना यह है अदत्तविरति। चौथा महाव्रत है अब्रह्मविरति। आत्माके न करने

योग्य कार्यसे विरक्त रहना। आत्माका स्वभाव है ज्ञान। तो ज्ञानके अनुकूल विरति रहना अब्रह्मविरति है। इस ब्रह्ममे यद्यपि पाचो इन्द्रियके विषयोसे राग करना, अपने आत्माके स्वरूपमे लीन होना इसमे ही इस व्रतकी उच्चता है, सफलता है, पर ऐसा करना सबके लिए जब शक्य नहीं है तो सागार सयमाचरण बताया है कि एकदेश पापका त्याग होना। मगर यहाँ तो सर्वदेश त्याग है। तो पञ्चेन्द्रियके विषयोसे निवृत्त होना और कुशील नामक पाप का सर्वदेशसे त्याग होना यह है ब्रह्मचर्य महाव्रत। ५वाँ है सगतिविरति। परिग्रहसे विरक्त रहना। परिग्रह खेत, मकान, धन-धान्यादिक बताये गए हैं। इनकी तो कभी भी इच्छा न जगना। जिसको ज्ञान जग जाता है उसके फिर इन बाह्य पदार्थ विषयक इच्छा नही रहती। उसका स्पष्ट निर्णय है कि मुझे तो इस अविकार सहज ज्ञानस्वरूप आत्मामे पहुचना है, मेरा दूसरा कुछ काम है ही नही। तो ऐसे अविकार सहज चैतन्यस्वरूपकी प्रबल दृष्टि रखने वाले साधु पुरुष इन ५ पापोसे तो पूर्णतया निवृत्त रहते ही हैं। तो ऐसे ये ५ महाव्रत बताये गए है, यह निरागार सयमाचरणका मूल आधार है। इसकी अतरगसे व्रतोकी परिपूर्णताके लिए अन्य व्रत सब परिकर रूप हैं। यो सराग सयमाचरणमे ५ महाव्रतोका स्वरूप बताया। अब आगे यह बतायेंगे कि इनको महाव्रत क्यो कहा गया है ?

साहन्ति जं महल्ला आयरिम ज महल्लपुव्वेहिं।
ज च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइ ॥३१॥

(७६) **महान् पुरुषो द्वारा साधित होनेसे महाव्रतोमे महापन**—निरागार सयमाचरण मे जो महाव्रत बताये हैं उनका नाम महा क्यो पडा है ? इसके उत्तरमे यह गाथा आयी है। चूंकि महान् पुरुष इन व्रतोको साधते हैं, इन व्रतोका आचरण करते हैं। इस कारण इनका नाम महाव्रत है। जो ससार, शरीरभोगोंसे विरक्त हैं, जिनके निरन्तर शुद्ध अविकार शुद्ध आत्मस्वरूपकी रुचि रहती है, जिनका उपयोग अपने आत्मस्वरूपके लिए ही उत्सुक रहता है ऐसे महान् पुरुष ही ५ पापोका सर्वथा त्यागरूप आचरण कर पाते हैं। इस कारण इन ५ व्रतोका नाम महाव्रत है तथा महान् पुरुषोंने ही इनका आचरण किया है, और जो भी पुरुष सिद्ध हुए हैं उन सबने महाव्रतके आचरणपूर्वक ही सिद्धि पायी है। तो महान् पुरुषोके द्वारा ही ये व्रत पाले गए है, इस कारण ये महाव्रत कहलाते हैं अथवा ये व्रत ही स्वय महान् हैं। ५ पापोका सर्वथा त्याग करना बहुत ऊँचा व्रत है। यह जीव अनादि सस्कारसे पापकी ओर ही तो रहता है। यद्यपि पापपरिणाम जीवके स्वभाव नही हैं, इस कारणसे पाप किया जाना कठिन होना चाहिए, किन्तु इन जीवोकी ऐसी वासना बन गई है कि इन्हे स्वभावकी बात तो कठिन लगती है और विकारकी बात सुगम लगती है। तो ऐसे ये विकार जो इतना

निर्लज्ज हो गए कि सुगम बन गए हैं. किन्तु जिनका परिणाम दुःख है। स्वय ये दुःखरूप है, जिससे आत्मा अत्यन्त अपवित्र हो जाता है ऐसे इन विकारोकी जो कठिन विडम्बना है और सुगमसी बन गई है उनका परित्याग होना एक बडा कठिन व्रत है। तो ५ पापोका सर्वथा त्याग करना स्वय ही महान व्रत है, इस कारण इन ५ महाव्रतोको महान् व्रत कहते है।

(७७) स्वयं महत्ता होनेसे महाव्रतोमे महापन— ये व्रत महान क्यो हैं कि इनमे पापका, अपवित्र भावका लेश भी प्रवेश नही है। अहिंसा महाव्रतमे सकल्पी, उद्यमी, आरभी और विरोधी सर्व प्रकारकी हिंसाओका त्याग है। अहिंसा महाव्रतमे पृथ्वीकायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन समस्त एकेन्द्रिय जोवोके भी घातका परित्याग है। तो ६ कायके जीवोकी जहाँ रक्षा है और अविकार ज्ञानस्वरूपकी जहा निरन्तर भावना है, जिनको सिवाय एक ज्ञानस्वभावकी आराधनाके दूसरा कोई काम रहा नही, ऐसे महत पुरुषोका यह व्रत महान है इस कारण ये महाव्रत कहलाते है, जिनका वचनोपर बडा नियंत्रण है, बोलना पसंद नही करते, मौन ही जिनको रुचिकर है, पर परिस्थितिवश बोलना पडे तो परिमित शब्दोमे बोलते है और जिसमे जीवोका हित हो वे ही वचन बोले जाते है। तो ऐसे वचनोपर नियत्रण रखना एक महान व्रत है। जल तक भी जो बिना दिए ग्रहण नही करते। किसी भी वस्तुके चुरानेकी मनमे कभी कामना ही नही बनती वह सस्कार ही नही है, ऐसे अशुभ भावसे जो बिल्कुल हट ही गया है, जिसको केवल अविकार आत्मस्वभावको ही ग्रहण करनेका भाव रहता है ऐसा महान् पुरुष इस चौर्य नामक पापका सर्वथा त्याग कर देता है। तो यह व्रत ही स्वय महान् है। ब्रह्मचर्य व्रत——मनसे, वचनसे कायसे तिर्यंचस्त्री, मनुष्यस्त्री, देवस्त्री या चित्रपटपर अकित स्त्री या प्रतिमाकी स्त्री। सर्व प्रकारके इन विषयोंको निरखकर जिनके मनमे लेश भी कोई दुर्भावना नही जगती, ऐसे महत पुरुषोका ही यह व्रत महान् पालन है ब्रह्मचर्य महाव्रत। परिग्रह त्याग महाव्रत, प्राय लौकिक जनोको यह संदेह होता कि कुछ भी परिग्रह न रखें तो गुजारा हो ही नहीं सकता। कुछ तो रखना ही पड़ता और संसार शरीर भोगोसे विरक्त एक अविकार चित्प्रकाशका अनुभव प्राप्त करनेमे ये रुचि वाले महत सत निष्परिग्रहतामे ही आत्मसर्वस्व समझते हैं। उन्होने सब कुछ पाया जिनको किसी भी परिग्रहकी भावना नही रहती, सर्व परिग्रहोसे विरक्त है, निष्परिग्रहताकी स्थिति है, जिसमें कि ज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपका अनुभव बना करता है, ऐसी निष्परिग्रहताको वे सर्वस्व समझते हैं। उनका परिग्रह त्याग नामका व्रत निर्दोष पलता है। तो ये व्रत स्वयं महान् हैं, इस कारण इनको महाव्रत कहते है। अब इन ५ महाव्रतोका

भले प्रकार पालन हो उनके लिए क्या भावनायें हुआ करती है उन भावनाओका वर्णन करेंगे, जिनमे सर्वप्रथम अहिसा महाव्रतकी भावना कहते हैं ।

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिक्खेवो ।
अवलोयभोयणाये अहिंसए भावणा होंति ।। ३२ ।।

(७८) अहिंसामहाव्रतकी योगसमाधानसे निर्दोषताके कथनमे प्रथम भावना वचनगुप्ति—वचनगुप्ति जहाँ भले प्रकार निभती है उनके अहिसा महाव्रत निर्दोष पलता है । वचन बोलना इसमे प्रथम तो उस वचनके प्रहारसे वायुके आघातसे कुछ हिंसा होती है, दूसरे जिसको वचन बोले जाते हैं उसको यदि कोई कटुक वचन समझमे आये तो उसके प्राण पीडित होते हैं और वचन बोलनेके लिए जो चित्तमे उद्यम होता है वह राग बिना नही होता । तो रागविकार करना ज्ञानीको असह्य है तो उस वातावरणको सहता हुआ बोलना पडता है तो वचनके बोलनेमे कितने ही अनर्थ है वचन यदि बोलता ही रहे, वचन बोलनेकी अधिक प्रकृति बनै तो कोई न कोई वचन ऐसे निकल ही बैठेंगे कि जिससे दूसरेके चित्तको वेदना हो सके, इस कारण वचनगुप्तिकी भावना रखना यह अहिसा महाव्रतका पोषक है । भावना बार बार मनन करनेको कहते हैं, अभ्यास करनेको कहते हैं, ऐसी प्रवृत्ति या निवृत्ति पसद नही होती है महंत सतोको कि जिसमे हिसा लगती हो तो वे हिसाका निरतर यत्न रखते हैं और प्रवृत्ति या निवृत्ति योगसे होती है । यहाँ प्रवृत्तिसे मतलब पूर्ण निवृत्ति न लेना, किन्तु कहीसे हटकर कही लगाना इसमे निवृत्ति भी आती, प्रवृत्ति भी आती । यह है योगका काम । तो मनोयोग, वचनयोग, काययोग ये अहिंसाको प्रवृत्ति कराते हैं । यदि स्थूल योग होता है और कषायमिश्रित योग चलता है तो वह अधिक बुरा है । सूक्ष्म होता है वह कम बुरा है, तो इस कारणसे मन, वचन, काय इन तीनपर नियत्रण हो तो अहिसा महाव्रत पालता है ।

(७९) अहिंसा महाव्रतकी द्वितीय भावना मनोगुप्ति—यहाँ वचनगुप्तिकी प्रथम बात कही जा रही है क्योकि मनुष्यका एक दूसरेसे सम्पर्क वचनोसे आरम्भ होता है, इसलिए पहले वचनगुप्तिकी बात कह रहे हैं । वचनोपर नियन्त्रण रखना, मौन भाव रखना, कदाचित् बोलना ही पडे तो दूसरे जीवोका आदर रखते हुए बोलना इसमे अहिसा महाव्रत पलता है । मनुष्योको एक ध्यान यह रखना चाहिए कि जिससे बात करे उसके प्रति यह भाव रहे कि यह भी परमात्मस्वरूप है, महान् है, इस जीवका भी आदर ही होना चाहिए । जिससे बोले उसके प्रति मनमे आदरभाव रखकर बोले । तो जब बोलना पडे तो वचन बुरे न निकल सकें । तो वचनगुप्ति अहिसाव्रतकी प्रथम भावना है ।

दूसरी भावना है मनोगुप्ति—मनको वशमे रखना । सारा प्रवर्तन-और यह सब

विडम्बनाकी चक्की जो कुछ भी चलती है वह इस मनरूपी यन्त्रसे प्रेरित होकर चलती है। यह मन न जाने क्या-क्या सोचता, न जाने कहाँ कहाँ नही जाना। इस मनसे ही ये सारे ओटोपाय चला करते है। तो इस मनको वशमे रखना, मन लुभाना नही, विकल्प बढाना नही और अनेक बार यह अभ्यास रखना कि कुछ सोचा ही न जाय, कुछ ख्यालमे ह आये ऐसी मनके व्यापाररहित स्थिति बनना और इस ही निर्व्यापार स्थितिकी भावना करना मनोगुप्ति है। पापका आरम्भ यह मनसे चलता है, कषायोसे चलना है। उसकी व्यक्ति तो कुछ देर बाद होती है मगर पापवृत्ति जहा मनमे बात आयी वहा ही शुरू हो जाती है। इससे मनको नियन्त्रणमे रखना। ५ इन्द्रियके विषय और मनका विषय ये ६ प्रकारके विषय बतलाये गए है। तो मनका विषय अलग इस कारण बताया गया है कि जो केवल मनका विषय है उसमे इन्द्रियका व्यापार नही चलता। जैसे नामवरी चाहना, लोगोसे अपनेको बडा समझने का भाव रखना इन बातोमे कैसे इन्द्रियका काम है ? यह काम किसी इन्द्रिय द्वारा शक्य नही है, यह मन द्वारा ही होता है इसलिए मनका विषय अलग बताया है और इन्द्रियके विषय जुदा कहा है।

(८०) **मनकी उद्दण्डता व नपुंसकता**—यह मन ऐसा व्यापक बन रहा है कि मनके विषयोको मन करता है सो ठीक ही है, पर इन्द्रियके विषयोके भोगनेको भी यह मन बडा ग वाला बना देता है। जिन जीवोके मन है वे जितनी तीव्रतासे विषयोका साधन सकते है, मनरहित जीव इतनी तीव्रतासे साधन नही करते। तब ही तो ये मनुष्य इन्द्रियके विषयोके भोगमे तिर्यञ्चोकी तरह, पशुओकी तरह सीधा-सीधा निपट ले सो नही करते, किन्तु वचनोसे, साहित्यिक कलासे, अलकारोसे, नाना प्रकारके वचनोसे, इन्द्रियभोगोसे साधन करते है। सिनेमा ये गाय, भैस वगैरह भी तो देख सकते है, मगर उस सिनेमाके देखनेसे इनमे किसी प्रकारकी उत्तेजना नही जग सकती। यद्यपि उनके भी मन है पर उनके मनुष्योके समान तीव्र वेग वाला मन नही है। और जिनके मन नही है ऐसे ये मक्खी मच्छर वगैरह भी तो सिनेमा देखते, पर उनको उसके देखनेसे कोई वेग नही होता। इस मनुष्यको मन मिला है तो यह इस तीव्रतासे इन्द्रियके विषयोका साधन करता है कि मनरहित कर ही नही सकता। तो मन इन इन्द्रियोमे भी जुटा हुआ है इन इन्द्रियोको यह मन प्रेरित करता रहता है सो ये इन्द्रिया उछल उछलकर भोगोमे प्रवृत्त होती है, किन्तु एक आचार्यदेवने कहा है कि मन तो नपुसक है, शब्दसे भी नपुसक है और उसके आचरणसे भी नपुंसक बताया है। मन शब्द संस्कृतमे है, उसका अर्थ नपुसक अर्थमे चलता है, मगर आचरण भी कैसे नपुसक है कि ५ इन्द्रियके विषयको मन नही भोगता। मनमे इन्द्रिय विषयोको भोगनेका काम ही नही है।

वह तो एक कल्पनासे भोगता है, पर देखना, सुनना, सूघना, स्वाद लेना, छूना यह मन नही करता, यह तो इन्द्रियां ही करती हैं। तो भोग तो इन्द्रिया भोगती हैं, पर यह मन उनको देखकर खुश होता है, उनमे प्रवृत्त होता है, कर कुछ नही सकता। तो यह मन नपुसक है, फिर भी यह इसमे तीव्र दुर्वासना है कि इन इन्द्रिय विषयोमे निवृत्त होना तेज प्रवृत्ति यह कराता है। तो ऐसे अटपट आचरण वाले मनको वश करना, यह अहिसा महाव्रतकी दूसरी भावना है। जिनका मन वशमे है उनसे अहिसा महाव्रत भले प्रकार पलता है। तो मनको वश करना, वचनको वश करना, यह अहिंसा महाव्रतका साधक है।

(८१) **अहिंसा महाव्रतकी तृतीय भावना ईर्यासमिति**—कायको वश करना यह भी अहिंसा महाव्रतका साधक है। तो शरीरको कैसे वश किया जाय उसे यहाँ तीन रूपोमे बतला रहे हैं। ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन। ईर्यासमितिका अर्थ है कि देख भालकर प्रकाशमे चलना जिससे जीवोको बाधा न हो। हम थोडा सा प्रमाद करे और वहाँ जीवोका घात हो जाय तो वह प्रमाद बहुत बडे पापका बध करता है। अपने स्वरूपके समान चीटी आदिक जीवोका भी स्वरूप समझे, और यह भावना रहना चाहिए कि मेरे प्रमादसे इन जीवोका दुर्मरण मत हो। रहेगी तो अवश्य ही चीटी कीडी वगैरा, पर वे अपनी मौतसे मरें। आखिर मरना ही है, उसमे अपनेको खेद न होगा, वह तो ससारका स्वरूप है, पर अपने प्रमादसे किसी जीवका वध हो गया दब करके या पानीमे बहा करके या नहानेके पानीमे बहकर किसी तरह जीवकी हिसा हो गई तो उस चोटमे वह चीटी जो मरे तो वह खोटे भाव मे मरी, तो यह तो प्रायः निश्चित है कि जो खोटे भावसे मरण करेगा सो वह जिस पदवीमे है उससे छोटे पदमे वह पहुच गया। उसे महानता नही मिल सकती। मरकर वह एकेन्द्रिय आदिकमे गया तो उसका कितना बिगाड हो गया कि जिसको तीन इन्द्रिय जैसा वातावरण मिला था जीव और आपके प्रमादसे वह निम्न दशाओमे पहुच गया यह जो अनर्थ बना उसका यह प्रमाद ही कारण बना, सो इसका वह जो प्रमादभाव है वह पापकर्मका, बघका हेतु है। तो देखकर चलना यह है ईर्या समिति।

(८२) **अहिंसामहाव्रतकी चतुर्थ भावना सुदाननिक्षेप समिति**— सुदाननिक्षेप समिति— देखकर वस्तुको धरना उठाना जिससे किसी जीवकी हिंसा न हो। तब ही तो मुनिजन अपने पास पिछी रखते हैं कि कमण्डल भी उठाया तो ऊपरसे झाडा नीचेकी पेंदी झाडा, तब उठाकर चलते हैं। धूपसे छायामे जाना हो तो छायाके निकट पहुचने पर धूपमे ही पिछीसे अपने शरीरको पोछते है, इसलिए कि धूप पसद करने वाले जीवोको कही छायामे पहुचनेपर बाधा

न हो छायासे धूपमे जाना हुआ तो धूपके किनारे पहुचनेपर छायामे ही पिछीसे शरीरको पोछ देते इसलिए कि छाया पसद करने वाले जीवोको धूपमे बाधा न हो। तो हर वस्तुको शोधकर धरना उठाना यह आदाननिक्षेपण समिति है। कोई चीज घसीटकर न ले जाना। जरा सा तो अथवा प्रमाद हो और वहाँ कोई जीवका घात होता है तो उस जीवको सुगति न मिलेगी, उसके लिए तो कुगति ही सरल है। तो कोई वस्तु धरना उठाना तो शोधकर देख भालकर धरना उठाना, ताकि किसी भी जीवको बाधा न हो, इस तरहसे प्रवृत्ति करना तथा निर्जन्तु स्थानपर मलमूत्रक्षेपण करना यह है सुदाननिक्षेप समिति।

(८३) अहिंसामहाव्रतकी पाचवीं भावना आलोकित पान भोजन—अहिंसा महाव्रत की भावनामे ५ वी भावना है आलोकित पान भोजन। देखकर खाना पीना। यहाँ देखकर का मतलब यह नही है कि देख रहा कि यह भोजन है, ग्रास है और खा लिया। यो तो अधा होकर कोई नही खाता। चाहे रातको खाये तो कौर तो दिखता ही है, अगर न देखे तो कभी मुखके बजाय नाकमे कौर पहुच जाय, ऐसा तो किसीके नही होता। तो इस देखने का मतलब यह नही है किन्तु जहाँ जीवोकी सूक्ष्म जांच हो सके, इस तरहका अवलोकन करके खाना पीना, जीवकी भली भाँति जाँच दिनके प्रकाशमे हो हो सकती है। रात्रिको तो चाहे कितनी ही तेज बिजली जलायी जाय पर जतु रहित पदार्थ समझमे नही आ सकते बल्कि बहुतसे जीव तो और भी उमड जाते हैं। तो दिनके प्रकाशमे ही खाना यह है आलो-कित पान भोजन अग। दिनका बना हुआ रात्रिको खाना यह आलोकित पान भोजन नही रहता। रात्रिका बना दिनको खाना यह भी आलोकित पान भोजन नही है। दिनमे ही बना हो, दिनमे ही खाये तो उसका आलोकित पान भोजन बनता है। इसके अतिरिक्त मर्यादा वाला भोजन है तो वह आलोकित पान भोजन है क्योकि मर्यादासे बाहरकी वस्तुमे आगमके उपदेशके अनुसार जीवोका स्थान बन जाता है। तो प्रारम्भमे जो जतु जन्मते है वे निगाहमे नही आते। जब उनका शरीर बडा होता दिखने लायक होता तब निगाहमे आते, मगर कोई पदार्थ जंतुओकी उत्पत्तिका स्थान न बन सके तब तक उस पदार्थका भोजन पान करना ह आलोकित पान भोजन है। आलोकित शब्दमे आ तो उपसर्ग है और लुक धातु है। देखने अर्थमे यद्यपि बहुत शब्द आते है—तकना, लुकना, देखना, परखना, निरखना आदि, पर इन सबके जुदे-जुदे अर्थ है। सामान्यतया सबका अर्थ एक है। बडे सूक्ष्म रूपसे देखे तो उनमे फर्क मिलेगा। तकना कहलाता है कोई छोटेसे द्वारसे बडी प्रतीक्षा सहित देखनेको। देखना एक साधारण बात है। परखना उसकी परीक्षा करते हुए देखना तो यहा आलोकित शब्द है, जिसका अर्थ है कि असमतातलोकन आलोकं, चारो ओरसे सब दृष्टियोसे निरखनेका

नाम है आलोकित । तो दिनके प्रकाशमे मर्यादाके अन्दर दिनमे ही निर्विघ्न आहारदान लेना आलोकित भोजन है । इसमे अहिंसा व्रत निर्दोष पलता है । प्रथम तो साक्षात् जीवघात नही है सो आलोकित पान भोजन है फिर उसमे भावना भी विशुद्ध है । विशुद्ध भावसे खा रहे है तो आगे भी उस विशुद्ध भावकी धारा चलती रहती है । अत. विकारसे हट जानेके कारण भी वह अहिंसा महाव्रत है । तो इस तरह अहिंसा महाव्रतको पुष्ट करने वाली ये पाच भावनायें कही गई है । इन भावनाओसे यह अहिंसा महाव्रत निर्दोष पलता है ।

कोह भयहासलोहामोहाविपरीय भावणा चेव ।
विदियस्स भावणाए ए पचेव य तहा होति ॥३३॥

(८४) सत्यमहाव्रतकी प्रथम भावना क्रोधप्रत्याख्यान— अब सत्य महाव्रतकी ५ भावनायें बता रहे हैं । क्रोधका त्याग, भयका त्याग, हास्यका त्याग, लोभका त्याग और मोहका त्याग होना, होनेकी भावना रहना ये सत्यमहाव्रतकी भावनायें हैं । जो मनुष्य क्रोधी होता है तो क्रोधमे वह वचनालाप अधिक किया करता है और कुछ सुध नही रहती है कि हम क्या बोल रहे है । जिसमे दूसरोका अपमान हो, विघात हो, कष्ट पहुचे ऐसे वचनोकी प्रवृत्ति होती है क्रोधमे और इसके साथ अपने आपमे अहबुद्धि रहती है कि इनमे मैं अधिक समझदार हू, महान हू और ये लोग हमसे छोटे हैं और इनका हमारे प्रति ऐसा व्यवहार हो आदिक कल्पनायें करके यह जीव क्रोध करता है और क्रोधके ही साथ ये अनेक वचन बोलते जिनमे असत्य वचन बोलनेकी बहुत सम्भावना रहती है । उसका अपराध न दिखा सके तो कोई झूठ बात ही कह देंगे, तो यो क्रोधमे बहुतसे असत्य प्रलाप सम्भव है, इस कारण जिनका सत्य महाव्रत निर्दोष पलता है उनको क्रोधका परित्याग करना चाहिए । क्रोधसे सत्यमहाव्रतकी हानि तो है ही, पर अहिंसा महाव्रतकी भी हानि है । मूल बात यह है कि जो २५ भावनायें कही हैं २५ व्रतोकी तो ये पच्चीसो ही भावनायें अहिंसा महाव्रतको पुष्ट करती है, क्योकि पाप एक ही है— हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये चार पाप हिंसाको ही पुष्ट करते हैं, इनमे भी हिंसा बसी हुई है । अपने प्राणोका घात होना, दूसरेके प्राणोका घात होना वह सब हिंसा है । अपने ज्ञान गुणका आवरण होना, विनाश होना यह भी हिंसा है, तो सभी प्रवृत्तियोमे हिंसा नामक एक पाप है, तो उसकी निवृत्तिमे जो जो कुछ भी भावनायें वगैरह हैं वे सब अहिंसा ही हैं । तो क्रोध करते समय यह जीव अपने आपके आत्मामे क्षोभ उत्पन्न करता है, खुद आत्मा बडा हैरान हो जाता है और तब उसके जो वचन निकलते हैं वे स्पष्ट वचन नही निकलते । क्रोधमे ओठ आदिककी क्रिया विडरूप हो जानेसे कुछ ढीली हो जानेसे उसके वचन अशोभनीय निकलते हैं । तो क्रोध करनेमे असत्यप्रलापकी सम्भावना

विशेष है, इस कारण क्रोधके परित्यागकी भावना और परित्याग होना यह सत्य महाव्रतकी प्रथम भावना है।

(८५) सत्यमहाव्रतकी द्वितीय भावना भयप्रत्याख्यान—सत्य महाव्रतकी द्वितीय भावना है भय परित्याग। यदि किसी वजहसे भय चित्तमे रहेगा तो भयशील पुरुष असत्य ही बोलेगा, क्योंकि उसकी अपनी रक्षाकी विशेष बात चित्तमे पडी हुई है, और जिस तरफ रक्षा हो सके उस तरफ ही भयभीत पुरुष प्रवृत्ति करता है। तो भयमें आकर वह असत्य-बोल सकता है। इस कारण भयके त्याग बिना सत्यमहाव्रत नही हो सकता। भय स्वार्थसाधनके विकारकी सम्भावना पर रहता है। मेरे स्पर्शनइन्द्रियके विषयके साधनोका विकार न हो जाय। यदि कोई उसपर बाधक होता है तो उसपर क्रोध भी आता है और उस समयमे भय भी होता है। कही यह मेरा बिगाड न कर दे। क्रोध, भय आदि ये सब क्षण-क्षणमे परिवर्तित हो रहे है, तो अपने विषयके साधनोके वियोगका भय असत्य वचन बोलनेका साधन मेरे खूब बना रहे और उसमे किसी प्रकारकी हानि न हो ऐसा जब संस्कार बसा हुआ है और परिस्थिति ऐसी है कि वह विवश है, कुछ उसके पास योग नही है, धन आदिक नही है तो ऐसी स्थितिमे उसे भोजनके साधनोके वियोगका भय बना रहता है, इसी तरह घ्राण, चक्षु कर्णइन्द्रियके विषयके साधनोका वियोग न हो जाय इस प्रकारका भय बना रहता है अथवा अपने प्राणोका भी भय बना रहता है। मेरे प्राण नष्ट न हो जायें, मेरा जीवन बना रहे यह भय तो बहुत बडा भय है। इस भयमे तो असत्य वचन बोलना प्रायः बहुतोके हुआ करता है। तो किसी प्रकारका भय चित्तमे आये तो उस भयके कारण यह जीव असत्य बोल सकता है। अतः सत्य महाव्रत निर्दोष पालनके इच्छुकोको भयका परित्याग करना चाहिए। भयका समूल त्याग कब होता है। जब भयरहित, विकाररहित आत्माका सहज शुद्धस्वरूप दृष्टिमे हो तो इस आत्मापर कोई प्रहार ही नही कर सकता। उसमे किसी दूसरी चीजका प्रवेश ही नही है। मेरेको नुक्सान क्या है? पर पदार्थ रहे चाहे जायें, चाहे किसी प्रकार परिणमे उनके परिणमनसे मेरे आत्माकी हानि क्या है, क्योंकि मेरा आत्मा अमूर्त ज्ञानानन्दघन स्वयं परमात्मस्वरूप है। इसमे भयका कोई काम ही नही है। अपने स्वरूपसे च्युत होता है और बाह्य पदार्थोंमे शरण बुद्धि लगाता है तो भयके अकुर उत्पन्न हो जाते हैं। उसके निर्णयस्वरूप निःशंक स्वरूप, उसमे भयका क्या अवकाश? ऐसे अतस्तत्त्वको देखने वाले साधु सत भयका परित्याग कर देते हैं। और निर्दोष सत्य महाव्रतका पालन करते है।

(८६) सत्य महाव्रतकी तृतीय भावना हास्यप्रत्याख्यान—सत्य महाव्रतकी तीसरी

भावना है हास्यपरित्याग । हास्यकी प्रकृति वालेके चित्तमे दूसरोके प्रति तुच्छताका भाव रहता है और वह यह समझता है कि मैं बुद्धिमान हू और मैं इस कलामे बडा कुशल हू और सब मेरी ओर ही मेरी कला देखनेको ताकते रहते हैं, ऐसा दूसरे जीवोके प्रति तुच्छ भावसे निरखनेका परिणाम रहता है और तब ही दूसरेका मजाक या उसको लज्जित करना, ये सब प्रयास चलते हैं । तो जिनकी हास्य करनेकी प्रकृति बनी हुई है उन पुरुषोको पद-पदपर असत्य बोलना होता है । गप्प करना भी इसी हास्यका ही प्रकार है । गप्प तो कभी सत्य बातमे होती ही नही है, वहाँ तो ढूँढ ढूँढकर झूठ बातें भी बनानी होती हैं । हास्य मजाक गप्पबाजीकी जिनकी प्रकृति है उनको सत्य वचन कहनेका नियम निभाना बिल्कुल कठिन बल्कि असंभव है । ज्ञानी पुरुष अपने आपमे देखता है कि यहा जो कुछ भी स्वभाव है, स्वरूप है वह सब परमार्थ सत्य है, और जो इस सत्य शिव सुन्दर अतस्तत्त्वकी उपासना करते हैं उनको फिर हीनता क्या ? कमी क्या है ? वे स्वय आत्मऋद्धिसे सम्पन्न हैं। तो ऐसे सत्य स्वरूपकी दृष्टि रखन वाले ज्ञानी पुरुष सत्य वचनके बाधक हास्यका परित्याग कर ही देते हैं। कभी कभी तो हास्यमे वैर बन जाता है । कवि जनोने कहा भी तो है—"काहूको हँसिये नही, हसी कलहकी मूल । हाँसी ही से भयो है पाडव कुल निर्मूल ।।" यह हास्यभाव अपने कल्याणका बाधक है, सत्य वचन बोल सकनेका बाधक है, उसका परित्याग ही कर देना चाहिए, ऐसी भावना सत्य महाव्रतमे होती है ।

(८७) सत्य महाव्रतकी चतुर्थ भावना लोभपरित्याग—सत्य महाव्रतकी चौथी भावना है लोभपरित्याग । लोभमे मनुष्य अधिकतर असत्य बोलते है । लोभी पुरुषकी यह कामना रहती है कि किसी भी प्रकार हो अगर थोडा झूठ बोल दिया और यहा तक कि यदि थोडा अन्याय भी हो गया और द्रव्य आता है तो द्रव्य आनेको वह महत्त्व देता है । तो लोभ कषायमे असत्य बोलनेके बहुत प्रसग आते है । व्यापारादिकमे झूठ बोलनेका और कारण ही क्या है ? लोभ कषाय । झूठ बोलकर, दूसरोको ठगकर अपने धनका संचय बनाना यह भाव हुआ करता है लोभका । तो जिनको लोभ कषायकी प्रकृति है उनको सत्य वचनका निभाना कठिन है, असम्भव है, अतएव लोभकी प्रकृति न होनी चाहिए । लोभसे कोई लाभ नही है, क्योकि लोभ करके जोड-जोडकर रख दिया और मरण करके चल दिया तो उस जोडे हुए धनका परिणाम क्या होता ? वह सब ज्योका त्यो पडा रह जाता, साथ कुछ नही जाता । आखिर जीवन तो किसी न किसी तरह पार होता ही है, उसके लिए लोभ क्या करना, एक धर्मभावना, ज्ञानभावना अपने आपमे वृद्धगत होती रहे तो इसका लाभ अगले भवमे प्राप्त होगा और इसी भवमे मिल जाता है । परपदार्थोका सग्रह करना लाभदायक नही बल्कि हानि-

कारक है, उससे पापबंध होता है । दुर्गतिमे जाना होता है । ऐसी विकट कषाय करते हुए कोई सत्य वचनोपर दृढ रह सके यह बात कठिन है । अतएव श्रद्धा दर्शन महाव्रत पालनके इच्छुवोको लोभका परित्याग करना चाहिए ।

(८८) सत्य महाव्रतकी पञ्चम भावना मोहपरित्याग—५वी भावना है सत्य महाव्रत की मोहपरित्याग । मोहसे विपरीत सोचना । मोहवश यह जीव असत्य सम्भाषण करता है । मोह किसका ? शरीरका मोह, नामका मोह, परिवारका मोह आदिक अनेक प्रकारके मोह होते है । मोहमे स्व और परका विवेक नही रहता । अपनी तो सुध रहती ही नही । सारा उपयोग किसी बाह्य तत्त्वमे ही लग जाया करता है । तो जिसकी बुद्धि एकदम बाह्य तत्त्वोमे ही आशक्त है, अपने आत्मस्वरूपको सुध नही है वह सत्य सम्भाषणपर कैसे अडिग रह सकेगा । परमार्थ सत्यका जिसको लक्ष्य नही है वह व्यवहारमे सत्य वचन पूर्णतया कैसे निभा सकेगा ? यद्यपि कुछ लोग होते हैं ऐसे कि जिनको परमार्थ सत्यकी तो सुध नही, और सत्य वचन बोलनेपर वे अडिग बने रहनेकी कोशिश करते है तो भले ही कुछ लौकिक सत्य बोलने का प्रयास बना ले, पर उन सब वचनोमे मूलतः सच्चाई नही है, क्योकि वह बाहर ही बाहर सब कुछ हिसाब लगाता हुआ बोल रहा है वह अपने आपमें विश्राम नही पाता, परमार्थ सत्य को नही निरखता और अपने आत्माके विषयमे जब वह सत्य तथ्य नही बता सकता, नही समझ सकता तो प्रथम असत्य व्यवहार तो उसका यह ही है । मोहसे विपरीत वृत्ति होना अर्थात् निर्मोह वृत्ति जगना, यह सत्य महाव्रतकी भावना है । मोहमे असत्य बोला जाता है यह तो बिल्कुल ही प्रकट बात है । किसी भी जीवको कहना कि यह मेरा है, किसी भी वस्तु को मानना कि यह मेरी है, तो उसकी है नही पर कहे मेरी, तो यह प्रकट असत्य बात है । जब तक मोह है तब तक सत्य वचन हो ही नही सकते हैं । इस कारण मोहके परित्यागकी भावना करना यह सत्य महाव्रतका निर्दोष पालन करने वालेको आवश्यक है । और वह मोहका त्याग करके निर्मोहताका अनुभव भी रखता है, ऐसी ये ५ सत्य महाव्रतकी भावनायें है ।

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास ज परोध च ।
एसणसुद्धिसउत्त साहम्मीसविसवादो ॥ ३४ ॥

(८९) अचौर्य महाव्रतकी प्रथम भावना शून्यागारनिवास— अब अचौर्य महाव्रतकी ५ भावनायें बता रहे है । अचौर्य महाव्रतकी पहली भावना है शून्यागार निवास । सूने घरमे रहना । कही कोई कुटी है, कोई घर बिलकुल सूना पडा है, जंगल है, किवाड रहित है, ऐसी जगह साधुजन निवास करते है क्योकि कोई सूना घर न हो याने किसी गृहस्थका घर है

वहाँ पर रहे तो वहाँ तो बहुत सी चीजें दिखेंगी। इनमे से कई चीज पसदकी भी हो जाती हैं, और चीजें पसंद आयें तो उसका अर्थ है कि यह चीज मुझको मिलती तो अच्छा होता। ऐसी बात मनमे आयी तो फिर इसका अर्थ क्या हुआ ? उसमे कुछ न कुछ चोरीका दोष तो आ ही गया, विकल्प तो लग ही गया। चाहे वह प्रकट चोरी न करे, पर पसद आनेमे ही चोरीका दोष आ जाता है क्योंकि उसका फलित अर्थ यह है कि किसी तरह यह चीज मेरे पास आ जाय। जहाँ किवाड आदिक लगे हो ऐसे घरमे यदि निवास करे तो चोरी की हुई चीजको छुपानेका साधन बना है ना, तो ऐसे साधनमे किसी प्रकार चौर्य पापके भावका सूक्ष्म दोष लग सकता है। इसलिए शून्यागार निवास होता है और इसकी ही भावना संत पुरुषोके रहती है। बिल्कुल सूने घरमे रह रहा हो तो वहा चोरीकी बात सोचनेका प्रसग ही नही रहता। कहा छुपाकर रखना ?

(६०) **अचौर्य महाव्रतकी द्वितीय भावना विमोचितावास**—दूसरी भावना है अचौर्य महाव्रतकी विमोचितावास। किसी कारणसे लोग गाँव छोडकर चले गए हो, कोई घर विमोचित हो तो ऐसे छोडे हुए घरमे रहना विमोचितावास कहलाता है, क्योंकि छोडे हुए घरमे कोई साधन परिग्रह नही रहता। जो घर छोडकर जायगा वह सब कुछ लेकर जायगा। तो जब वहाँ कोई वस्तु नहीं है, वहाँ कुछ चीज दिखेगी नही तो उसके मनमे कुछ उस प्रकारकी कल्पना न जगेगी। तो विमोचितावास अचौर्य महाव्रतकी यह दूसरी भावना है।

(६१) **अचौर्यमहाव्रतकी तृतीय भावना परोपरोधाकरण**—अचौर्यमहाव्रतकी तीसरी भावना है परोपरोधकरण। दूसरोको ठहरनेसे रोकना नही। कोई पुरुष दूसरोको ठहरनेसे क्यो रोकता है ? जिस घरमे, जिस कमरेमे वह रह रहा है वहाँ दूसरोका ठहरना किसीको पसद नही आता और वह किसीको वहाँ ठहरने नही देता तो वहाँ मुख्य बात क्या है ? तो बात यह है कि उसके चित्तमे यह बात आती कि कही मेरी कोई चीज यह चुरा न ले। इसी ख्यालमे दूसरोको ठहरनेसे रोका जाता है, पर साधु जनोके पास तो कोई चीज होती नही। जब चुराने लायक कुछ वस्तु ही नही तो वह दूसरोको रोकना ही क्यों चाहेगा ? अथबा किसी जगहपर अधिकार भी नही मुनिका कि जिसे वह यह कह सके कि यह जगह मेरी है, यहाँ तुम नही ठहर सकते। अगर वह यह सोचता है कि यह जगह मेरी है तो वही एक चोरीका दोष हो गया, क्योंकि जो परमार्थतः मेरी चीज नही, लौकिक दृष्टिसे भी मेरी चीज नही उसको मेरी कहना और उसको अपनानेका भाव रखना यह भी एक चोरी है। तो दूसरे पुरुषोको ठहरनेसे रोकना नही यह है अचौर्य महाव्रतकी तीसरी भावना।

(६२) **अचौर्य महाव्रतकी चतुर्थ भावना एषणाशुद्धि**—अचौर्य महाव्रतकी चोथी

भावना है एषणाशुद्धि, निर्दोष आहार लेना। भिक्षावृत्तिसे चर्या करके निर्दोष आहार लेना एषणाशुद्धि कहलाती है। जिस प्रकारसे जिसके आहार विहारकी चर्या है उसके खिलाफ कोई प्रवृत्ति करे तो उसमे दिल कांप जाता है। मानो वह चोरी कर रहा। जैसे राजाका भोजन थाली मजाकर आये, लोग निवेदन करें तब खाये, और इसके खिलाफ यदि वह स्वय ही जाकर रसोईघरमे से चीज उठाकर खाये तो थोडा वह इस बातका विचार जरूर करता है कि कही कोई मुझे इस प्रकारसे खाते हुए देख तो नही रहा। जिसकी जो विधि है आहार विहारकी उसके खिलाफ करे तो उसमे भी चोरीका दोष रहता है। तो एषणा न रखे, गृहस्थोकी भांति किसी भी तरह भोजन निर्माण सग्रह आदिक करे तो उसमे चोरीका दोष है अथवा कोई अतराय आया और उसे छुपा लिया तो यह भी चोरीका ही रूप है। तो अचौर्य महाव्रतकी चौथी भावना है एषणाशुद्धि।

(६३) अचौर्य महाव्रतकी पांचवीं भावना साधर्मिजनाविसवाद—अचौर्य महाव्रतकी ५वी भावना है साधर्मी अविसम्वाद। जो अपने साधर्मी बंधु है उनमे विसम्वाद करना, झगडा करना, यह अचौर्य महाव्रतका दोष है। प्राय· ऐसा होता है कि किसीका किसीसे झगडा हुआ तो उस झगडेमे जो क्रोध आया तो तत्काल अगर कुछ बदला न दे सके तो भीतर यह भावना रहती है कि मैं इसको नुक्सान पहुचाऊँ, या इसका धन लुट जाय। जब कलह होती है तो उस कलहसे उसको नुक्सान पहुचानेकी भावना जगती है और उस भावनामे उसको चोरीका दोष लगता है। तो जो अचौर्य महाव्रतका नियम रखने वाले साधु-सत जन है उनका यह कर्तव्य है कि वे साधर्मी जनोमे विसम्वाद नही करते। साधर्मी पुरुषोके साथ विवाद करनेके और भी दोष हैं। जिन्हे धर्मसे प्रीति नही होती वे ही धर्मात्मा जनोसे विवाद करने है। यदि धर्मसे प्रीति है तो फिर धर्मात्मा जनोसे विवाद करनेका काम ही क्या है? जिसको धर्मसे रुचि नही है वही पुरुष धर्मात्मा जनोको देखकर ईर्ष्या करेगा, विरोध करेगा, उनसे उपेक्षा करेगा। झगडा भी ठनेगा। तो धर्ममे अवात्सल्य सिद्ध करता है साधर्मी जनोमे झगडा करनेसे। और भी अनेक दोष आते है। तत्काल अपने आपमे महा सक्लेश होता, क्योकि सामान्य जनोसे विवाद करें तो उसमे सक्लेश विशेष करना पडता, पर साधर्मी जनो से विवाद करें तो उसमे सक्लेश विशेष करना पडता। तो साधर्मी जनोसे विवाद रखना यह अचौर्य महाव्रतका दोष है। अत· अचौर्य महाव्रतका पालन करनेके इच्छुक सतोंको साधर्मी जनोसे विवाद न करनेकी भावना रहती है, और कभी विसम्वाद करते भी नही है। इस प्रकार ये भावनायें अचौर्य महाव्रतकी कही गई है।

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं ।
पुट्ठियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥ ३५ ॥

(६४) ब्रह्मचर्यमहाव्रतकी प्रथम भावना महिलावलोकनत्याग—इस गाथामे ब्रह्मचर्य महाव्रतकी ५ भावनायें कही गई हैं । पहली भावना है महिलावलोकनत्याग । स्त्रीको रागभाव सहित रखना । यद्यपि शब्दमें सिर्फ इतना ही है कि महिलाका देखना, पर देखने मात्रसे दोष नही है, क्योकि साधु आहार भी लेते है तो क्या वे कुछ देखते भी नही कि कौन आहार दे रहा ? अत्यन्त वृद्ध स्त्रियोंको अपने हाथसे आहार देनेका निषेध है, अब उस स्त्रीको देखता तो है वह साधु कि इसके हाथसे आहार लेना हमे योग्य है या नही, तो वह देखनेमे तो आयगी ही । देखने मात्रका यहां दोष नही है, किन्तु रागभावसे देखनेका त्याग होता है ब्रह्मचर्य महाव्रतमे । जैसे गायको चाहे कोई सुन्दर स्त्री घास डाल दे चाहे असुन्दर, तो वह गाय सुन्दरता असुन्दरताको नहीं देखती, उससे उसे कोई प्रयोजन नही । वह तो केवल अपने भोजनको (घासको) देखती है, ऐसे ही साधु जनोको चाहे कोई सुन्दर स्त्री आहार दे चाहे असुन्दर दे, उससे उन्हे कोई प्रयोजन नही, वे सुन्दर असुन्दर कुछ नही देखते, कोई स्त्री आहार दे या अन्य कोई, इसपर उनकी दृष्टि नही होती, इसी कारण साधुकी भिक्षावृत्तिका नाम है गोचरी वृत्ति । गायकी तरह चर लेना याने जैसे गाय रूपादिक नही देखती और अपना भोजन मात्र खाती, ऐसे ही साधु भी कुछ रूपादिक नही देखते । तो महिलाका रागभाव सहित अवलोकन करना, यह है दोष । और इसका त्याग हो तो वह ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना है ।

(६५) ब्रह्मचर्य महाव्रतकी द्वितीय भावना पूर्वरतभोगस्मरण त्याग—ब्रह्मचर्य महाव्रतकी दूसरी भावना है पूर्वरतभोगके स्मरणका त्याग । साधु हो गया है और पहले घरमे था, सपत्नीक था । वैराग्य हुआ गृहत्याग कर दिया तो अब पूर्वमे भोगे हुए भोगोका स्मरण नही करता, जिसको अपने आत्मतत्त्वमे रमनेकी रुचि लग गई और इस ही को जिसने सार समझा, इसके लिए ही जिसका मन बना रहता है वहां गुंजाइस है कहां कि पहले भोगे हुए भोगोका स्मरण करना । यह तो कामके अभिलाषी पुरुषोका काम है । साधु होनेका अर्थ है कि केवल अविकार सहज ज्ञानस्वरूप परमब्रह्ममे लीन होनेकी धुन रखना । तो इतनी पवित्र भावना जिनके रहा करती है उनके पूर्वमे भोगे हुए भोगोके स्मरणका कोई अवसर नही होता । यदि कोई पूर्वमे भोगे हुए भोगोका स्मरण करता है तो उसमे वेदके उदयकी तीव्रता है तब तो उस तरफ ख्याल किया और ख्याल रख करके इस तरहका कुछ भाव भी बनाया गया तो यह सब दोष है । ब्रह्मचर्य महाव्रती पहले भोगे हुए भोगोको याद नही करता । जैसे

अनेक पुरुष पहलेके पाये हुए आरामका अभिमानपूर्वक वर्णन करते हैं, कोई धनिक था और आज दरिद्र हो गया या उसके पुरखे धनिक थे और अब वह दरिद्र है तो वह अपने पुरखोका नाम लेकर या अपनी पहली दशा बताकर लोगोमे शानकी बात कहता है—मैं ऐसा था, मैं ऐसा था। ब्रह्मचर्य महाब्रतीको अपनी शान किसीको बतानेकी भी जरूरत नही है। किसमे वह अपनी शान बतायगा ? महाव्रती पुरुष असयमी जनोसे सम्भाषण नही करते। कोई परिस्थिति ही आये तब सम्भाषण करते हैं। उनका सम्भाषण महाव्रतियोमे होता है। तो वहाँ अगर पहले भोगे हुए भोगोकी बात, शान वाली बात कहेगा तो उसकी वहाँ निन्दा होगी। अपने आप अपनी निन्दा कराने वाली बात कोई नही बोलता। तो ब्रह्मचय महाव्रती पुरुष पहले भोगे हुए भोगोका स्मरण नही करता।

(९६) **ब्रह्मचर्य महाव्रतमे स्त्रीसंसक्तवसतिकात्यागनामक तृतीय भावना**—ब्रह्मचर्य महाव्रतकी तीसरी भावना है स्त्रीसे ससक्त बसतिकामे बसनेका त्याग। जहाँ स्त्री जन रहती हो उस कमरेमे न रहना। स्त्री न भी रहे, चली भी जाय तो भी उस कमरेमे न रहना यह ब्रह्मचर्य महाव्रतकी भावना है, और स धारणतया जो गृहस्थ ब्रह्मचर्य व्रत ले चुका हो उसके लिए भी ऐसी बातें बतायी गई है कि उसके पहनने वाले कपडोको न छूना, जिस शय्यापर वह सोती हो उसे न छूना आदिक वहाँ भी बातें बतायी गई हैं। स्त्री जिस आसन पर बैठती हो उस आसनपर न बैठना, यद्यपि वह सूना आसन है फिर भी यदि विदित हो कि इस पर स्त्री बैठा करती है तो उस पर बैठने से उस विषयक कुछ स्मरण तो हो ही जायगा। इतना भी स्मरण नही चाहता है ब्रह्मचर्य महाव्रतका धारी। तो जहाँ स्त्रीजन रहते हो ऐसी बसतिकामे बसनेका त्याग ब्रह्मचर्य महाव्रती साधुको होता है। एक कला जिसको आ गई उसके लिए ये सारी बातें निभना सरल है, अपना अविकार सहज ज्ञानस्वभाव जो सहज आनन्दमय है, इस परमार्थ सत्य स्वरूपका जिसको भान हो गया है और इस भानके प्रतापसे अलौकिक परम आनन्दका अनुभव पाया है ऐसे आनन्दको भोगने वाला पुरुष उन विकार और विकार साधनो मे लगनेका मन ही नही करता। धुन लगी है अविकार सहज स्वरूपकी ओर। तो ब्रह्मचर्य महाव्रती ऐसी जगह नही बसता जहाँ स्त्रीका ससर्ग हो और स्मरण आ सके। तो यह है ब्रह्मचर्य महाव्रतीकी तीसरी भावना।

(९७) **परिग्रहत्यागमहाव्रतकी चतुर्थभावना स्त्रीविकथात्याग**— ब्रह्मचर्य महाव्रतकी चौथी भावना है स्त्रीकी कथा करनेका त्याग। जैसे अमुक जगह ऐसी स्त्री, अमुक स्त्री ऐसी और स्त्री स्त्री शब्द बार बार मुखपर आये, ऐसे भी बात बनती नही है। तो स्त्रीकी कथा करना विकथा कहलाती है। और विकथा मनको कुछ न कुछ उपद्रवमे डालती है। स्त्री-

विषयक अच्छी भी कथा करना ब्रह्मचर्य महाव्रतीको शोभा नही देता। हाँ समय पाकर कुछ बोल दे तो वह बात और है। जैसे कुछ स्त्रिया सती होती, शीलवती होती " इस प्रकार बोल दिया, मगर अधिकतर स्त्रियोके सम्बधमे बोलता ही रहे तो इसका प्रयोजन क्या है? अपने अतस्तत्त्वकी साधना करना, यह महाव्रती मुनिका उद्देश्य है। यहाँ ध्येय यह है कि किसी भी स्त्री जातिका स्मरण तक न आये, उनकी विकथाओंकी बात तो दूर रहे। एक बार जिनसेनाचार्यके प्रति बहुतसे लोगोने शक किया कि स्त्रियोके शृङ्गार, रूप, सौन्दर्यताका बहुत बहुत वर्णन इन्होने अपने शास्त्रोमे किया तो वह आचार्यदेव महाव्रती कैसे? जो आदि पुराण, हरिवश पुराण बनाया है उनमे स्त्रीका जहाँ वर्णन आता। अमुक राजाकी रानी थी, अब रानीका वर्णन चल रहा तो उसके अग अगका वर्णन किया। तो वहाँ बहुतसे लोगोने शक किया कि कैसे इन जिनसेनाचार्यजीका ब्रह्मचर्य व्रत निर्दोष रहा? फिर उसकी कोई परीक्षाकी तो उसमे वह रच भी असफल न हुए। तो उनका दृष्टिकोण केवल पाठक लोगोको विदित जाय कि ऐसी ऐसी भोग सामग्री हुआ करती हैं और जो पुरुष विरक्त होते हैं वे ऐ- सुन्दर सुन्दर भोग सामग्रियोका त्याग कर देते हैं तो उनके अन्दर कितना ज्ञान और ग्य बसा है। यह याद दिलानेके लिए भोग सामग्रीका वर्णन किया जाता है। पर साधारणतया तो स्त्री सम्बन्धी कथा विकथा तो करनी ही न चाहिए। यह है ब्रह्मचर्य महाव्रतकी चौथी भावना।

(९८) **ब्रह्मचर्यमहाव्रतकी पञ्चम भावना पुष्टेष्टरसपरित्याग**—५ वीं भावना ब्रह्मचर्य महाव्रतकी है पुष्टकारी अर्थका सेवन करना। जो रस होता है, भष्म होती है, मेवा होती है। जो पुष्टकारी है और चित्तको मदायला करनेका साधन है, ऐसे रसोका सेवन न करना। अब तो कितनी ही औषधियाँ इसके लिए बनती हैं कि जिनका सेवन करनेसे मनुष्योमे काम का वेग जागृत हो, ऐसी औषधिया कोई रस रूप होती हैं कोई भष्मरूप, उनका सेवन करने के त्यागकी भावना ब्रह्मचर्य महाव्रतीके होती है। शास्त्रोंमे जो रस परित्याग नामक तप कहा है उसका प्रयोजन क्या है कि अपनी इन्द्रियको शरीरको कृश करना। इसे उस ओरसे निर्बल बनाना कि जिससे कामादिक भावनायें न उत्पन्न हो। इसीलिए रस परित्याग है। तो जो साधारण रस है उसका यहाँ परित्याग न करें तो जो खास कर कामवर्द्धनके लिए ही रस बनाये जाते हैं या भोजनमे भी जो विशेष पुष्टकारी रस होते हैं उनका परित्याग करना और उनके त्यागकी भावना रखना यह ब्रह्मचर्य महाव्रतकी ५ वी भावना है। अब अपरिग्रह महाव्रतकी भावना कहते हैं।

अपरिग्गह समगुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगघेसु ।
रायद्दोसाईण परिहारो भावणा होति ।।३६।।

(९९) **परिग्रहत्याग महाव्रतमे मनोज्ञामनोज्ञ विषयरागद्वेषवर्जन**—परिग्रह किसलिए लोग जोडते है ? पचेन्द्रियके विषयोकी साधनाके लिए जोडते है और आगे भी हमारे इन्द्रिय विषयोके साधन चलते रहे इस ख्यालसे परिग्रहका सचय करते हैं । कोई अगर एक वर्तमान ही इन्द्रिय विषयका राग रख रहा है तो उसे अधिक परिग्रह जोडनेकी लालसा न बनेगी, क्योकि वह तो यह चाहता है कि सदा जीवनमे कभी भी हमारे इन विषयोका साधन न छूटे उसके लिए इतने परिग्रह जोडने होते हें । तो उन इन्द्रियविषयोमे कुछ तो हैं मनको रमाने वाले और कुछ है मनमे घृणा उपजाने वाले अर्थात् मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनो प्रकारके परिग्रह होते हैं, तो उनमे मनोज्ञ परिग्रहमे तो रागका त्याग हो और अमनोज्ञ परिग्रहमे द्वेष का त्याग हो, ऐसी भावना रखना और उनका त्याग करना सो यह अपरिग्रह महाव्रतकी भावना है ।

(१००) **परिग्रहत्याग महाव्रतमे मनोज्ञामनोज्ञस्पर्शनेन्द्रियविषयरागद्वेषपरिहार**—जैसे स्पशन इन्द्रियका विषय स्पर्श है, मान लो ठडा स्पर्श सुहाता है, गरम नही सुहाता और मिल जाय कही ठडा स्पर्श तो वहाँ मौज मानना, राग करना, अहा बहुत ठीक रहा । तो यह परिग्रह महाव्रतका दोष है । उसने उस मनचाही वस्तुका राग किया और उसका परिग्रह बनाया । यद्यपि ठडी जगहमे भी रहना होता है, गर्मीकी बाधासे भी दूर हो गए, यह चलता है मगर उसके प्रति ऐसा आशक्त होना कि उसमे अपनेको सतोष मानना और मौज वाला मानना, इस उपयोगसे होता क्या है कि आत्माके अविकार सहज स्वरूपकी सुध खतम हो जाती है । तो महाव्रती जन मनोज्ञस्पर्शमे राग नही करते और अमनोज्ञ स्पर्श मिल जाय, गरम भोजन बुरा लगता है और गरम ही मिल गया तो उसमे द्वेष नही करते, अथवा ठडा भोजन बुरा लगता और ठंडा ही मिल जाय तो उसमे वे अरति नही करते । महाव्रती की भिक्षावृत्तिका दूसरा नाम है गर्तपूरण, जैसे किसी गड्ढेको भरना है तो उसमे कोई बढ़िया घटियाका कुछ विवेक नही करता, जो भी कुछ मिला कूडा करकट मिट्टी पत्थर वगैरह सो उसमे भर दिया जाता है, क्योकि गड्ढेको भर देने मात्रकी वहाँ दृष्टि रहती है तो ऐसे ही महातीकी दृष्टि केवल गड्ढेको भर देना इतनी भर रहती है । यह उदर (पेट) एक गड्ढा है, उसकी पूर्ति करना है, मगर इतना विवेक करते हैं कि कोई अशुद्ध भोजन न पहुचे, भोजन शुद्ध भी हो, मगर सरस हो, नीरस हो, मनोज्ञ हो, अमनोज्ञ हो, इसका ध्यान नही करते । शुद्धका ध्यान रखते हैं । तब ही तो कथानकोमे वर्णन आया है कि किसी मुनिको कडवी

तूमीका आहार करा दिया और वह आहार करता जा रहा, बादमें कै हो गया, यह बात दूसरी है, मगर यह कह रहे कि वे मनोज्ञ और अमनोज्ञका विचार नही करते। तो यह अपरिग्रह महाव्रतकी भावना है।

(१०१) परिग्रहत्याग महाव्रतमे मनोज्ञामनोज्ञ रसनेन्द्रिय विषयमे व घ्राणेन्द्रियविषयमे रागद्वेष परिहार—रसोमे मनोज्ञ रस जैसे मीठा सुहाता है तो भीतरमे ऐसा राग न रखना कि मुझे मिष्ट चीज मिले। मान लो कोई चीज मीठी आ गई सामने तब तो अजुली खोल दी नही तो अजुली बद कर ली ऐसी बातमे रागकी पुष्टि होती है। ऐसे मनोज्ञ अमनोज्ञकी बात साधुजन नही देखते, उन्हे तो बस भोजन शुद्ध हो, मनोज्ञ अमनोज्ञकी कुछ बात नही। मनोज्ञ अमनोज्ञ रसोमे प्रीति करना यह अपरिग्रह महाव्रतमे दोष है। ऐसे ही घ्राणका विषय है गध सुगंधमे तो राजी रहना और दुर्गन्ध आ जाय तो नाक भौं सिकोडना यह बात अपरिग्रह महाव्रतीमे नही है। सुगन्ध हो तो, दुर्गन्ध हो तो, उसके मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहते है। हाँ इतना विचार अवश्य करना चाहिए कि मल मूत्रादिक गदगियोके पास न रहना, क्योकि वह स्वाध्याय करने, धर्मसाधना करने लायक स्थान नही। धर्मसाधनाके अयोग्य स्थान है, इससे ऐसे स्थानमे न रहना, मगर कदाचित् हवाके साथ दुर्गन्ध आ रही है तो उसमे नाक भौंह सिकोडना यह महाव्रतीमे नही होता। सुगधके लिए ललचाना और सुगध वाली जगहमे उसका मौज लेनेके लिए ललचाना, निवास करना ये सब मनोज्ञके राग और मनोज्ञके द्वेष हैं। अपरिग्रह महाव्रतीके ये बातें नही होती। कोई फूल चढा रहा है तो बडे खुश हो रहे हैं और सुगध इतनी मिल गई पर यह नही कह सकते कि फूल तोडनेमे एकेन्द्रिय जीवका घात है और एक एकेन्द्रियके घातसे असख्यात एकेन्द्रियका घात होता है केवल एक फूल तोडनेमे, क्योकि एक पेडमे एक जीव तो मुख्य रहता ही है, मगर पेडके तने तनेमे, शाखामे, पत्तोमे, फूलमे अनेको असख्याते एकेन्द्रिय जीव और भी रहते हैं। तो आप काम न करें ऐसी बात नही कह सकते और फूल चढायें तो वह सुहा जाय ये अपरिग्रह महाव्रतीके काम नही होते। ये तो लौकिक काम हो गए। महाव्रती सन्यासी तो इतना विरक्त है विषयोसे कि उसकी ओर उसका उपयोग ही नही होता। कभी भोजन करना पडता तो विवेक उसे उठाता है कि निराहार मत रहो, उससे तुम्हारे सयममे बाधा होगी। सो करता है भोजन, पर मनोज्ञसे प्रीति और अमनोज्ञसे अप्रीति, यह बात अपरिग्रह महाव्रतीके नही होती।

(१०२) परिग्रह त्याग महाव्रतमे मनोज्ञामनोज्ञ चक्षुरिन्द्रिय विषयमे रागद्वेषका परिहार—अपरिग्रह महाव्रतीमे निरन्तर रूपको देखनेकी चाह और कुरूपको देखनेसे द्वेषकी

भावना नही बनती। सुन्दर रूप चेतनमे भी होते, अचेतनमें भी होते हैं। बढिया पेन सुहाना, बढिया चश्मा सुहाना, कमण्डलको बहुत सजाकर रखना ये वृत्तियां परिग्रह महाव्रतीके नही होती। वह जानता है कि कमण्डल मेरी चीज नही, जरूरत पडनेपर रखना पड रहा है। अब उसे रगाना, सजाना, उसकी सुन्दरता बढाना, इसकी जरूरत कुछ नही समझते। अन्य वस्तुओंको तो मुनिजन रखते ही नही है, पर जो उपकरण रख रहे है उनके भी सजानेकी बात मनमे नही आती। और यदि बिना सजावटके हो, अटपट रूपके हो तो उनसे द्वेष जगे यह बात महाव्रतीमे नही होती। तो रूप सुन्दररूपका अवलोकन करना और असुन्दर रूपसे मुख मोडना यह बात अपरिग्रह महाव्रतीके लिए दोषकी बात है। इन अचेतन पदार्थोंमे सुन्दर असुन्दरकी बात विचारनेसे इस आत्माका क्या भला होगा सो तो बताओ? बल्कि उसमे उपयोग जानेमे कुछ हानि ही होगी। चेतन पदार्थोंमे रूप होता है। जैसे पुरुष स्त्रीका रूप, तो वहाँ रूप क्या है? भीतर तो ऐसा हड्डीका आकार है कि वह सीधा दिख जाय तो बडा घिनावना लगेगा। उस ही हड्डीपर ये मांसादिक चिपके हैं और उसका कैसा ही ढांचा हो, कैसा ही रूप हो, उसमे कौनसी सार बात है? यह सब परिज्ञान होनेसे अपरिग्रह महाव्रतीको एक रूपमे रागद्वेष नही होता। उनकी तो धुन एक अविकार ज्ञानस्वरूपकी ओर लगी है उनको इसका विकल्प करनेके लिए समय ही कहाँ रखा है?

(१०३) **परिग्रहत्यागमहाव्रतमे मनोज्ञामनोज्ञ कर्णेन्द्रियविषयमे व मनोविषयमे राग द्वेषका परिहार**—अपरिग्रह महाव्रतीकी वृत्तिमे मनोज्ञ शब्द और अमनोज्ञ शब्दका रागद्वेष नही रहता। कोई सुरीला शब्द है, अच्छा राग रागनी वाला शब्द है उसमे राग होना और किसीका अच्छा स्वर नही है, ढग ही नही बनता गानेका तो इसको सुनकर द्वेष करना यह अपरिग्रह महाव्रतमे दोष है। तो जब दूसरोका राग रागनी सुननेका राग भी साधु नही करता तो वह स्वय ही दूसरोके बीच बडे रागसे भजन गाये तो यह बात नही बनती, और स्वय भी बडे रागसे भजन बोलनेकी इसकी प्रवृत्ति नही होती, और अविकार ज्ञानस्वरूपमें धुन लगाने वालोके पास इतना अवकाश भी कहाँ है कि वे रागद्वेषकी बातोमे लिपटने फिरें। तो ऐसे ये ५ विषय मनोज्ञ हो, अमनोज्ञ हो, उनमे रागद्वेषका परिहार करना और ऐसी ही अपनी भावना रखना यह है मनोज्ञ अमनोज्ञ शब्दमे रागद्वेषका त्याग। इस तरह अपरिग्रह महाव्रती पञ्चेन्द्रियके विषयोमे राग और द्वेषका परिहार करता है। इसके साथ-साथ यह भी समझना कि मनके विषयमे भी वह रागद्वेष नही करता। जो मनको सुहाये ऐसे तत्त्वमे प्रीति न हो और जो मनको न सुहाये ऐसे तत्त्वमे अप्रीति न हो, मात्र उनका ज्ञाता द्रष्टा रहे, जान लिया कि अमुक पदार्थ इस प्रकारसे है। तो किसी भी प्रकारकी जब अतरग परिग्रहमे इतनी

रुचि नही है तो बाहरी परिग्रह रखनेकी रुचि तो होगी ही कहाँसे ? सब कुछ त्याग करनेके बाद उसका स्मरण अपरिग्रह महाव्रती नही करता, क्योकि स्मरण होता है उसका कि जिनको कुछ सारभूत समझा है। असार जानकर तो त्याग किया और अपने परमात्मस्वरूपको सर्वस्व सार और शरण जानकर अपनी आराधनाके लिए त्याग किया तो ऐसा त्यागी परिग्रहत्यागी महाव्रती मुनि किसी भी परिग्रहका अपने चित्तमे स्मरण नही करता है, इस प्रकार ये अपरिग्रह महाव्रतकी ५ भावनायें कही गई है।

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो ।
संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ ॥ ३७ ॥

(१०४) **पांच समितियोका वर्णन**—व्यवहार संयमाचरणमे ३ गुप्ति और ५ महाव्रतका वर्णन हो चुका। अब ५ समितियोका संक्षिप्त वर्णन कर रहे हैं। समिति कहते हैं संयम की शुद्धिके लिए सम्यक् प्रवर्तन जो अर्थ शब्दमे ही समाया है। सम् कहते हैं भले प्रकार इति मायने प्रवृत्ति, गमन करना, बोलना, धरना उठाना। इन सब भली प्रकारकी प्रवृत्तियोको समिति कहते हैं। समितिका प्रयोजन है संयमकी शुद्धि। किसी जीवको बाधा न हो और अपने आपमे विकार न जगे, ऐसी सावधानी सहित प्रवृत्तिका नाम है समिति। यह बताया गया है आगममे कि मुनिको और अधिक बोध न हो तो अष्ट प्रवचन मात्रिकाका बोध तो होना ही चाहिए। वह अष्टप्रवचन मात्रिका क्या है ? तीन गुप्ति और ५ समिति। महाव्रतको तो उसने धारण किया ही है, पर प्रवर्तनके लिए तीन गुप्ति और ५ समितिका स्पष्ट बोध होना चाहिए। मन वचन कायको वशमे करना, कैसे रखना, वह सहज कला मुनिमे आयी है उसका उनको पूरा स्पष्ट बोध है इसी प्रकार समिति कैसी प्रवृत्ति करनी चाहिए, उसका भी स्पष्ट बोध है। अष्ट प्रवचन मात्रिकाका ज्ञान और पालन बिना मुनिव्रत नही बनता। इससे अधिक ज्ञान हो अथवा न हो, पर अपने आत्मामे स्थिर होनेके लिए अष्टप्रवचन मात्रिकाका स्पष्ट बोध होना ही काफी है। और जिसको अष्ट प्रवचन मात्रिकाका बोध है उसे अविकार सहज चैतन्य स्वरूप का परिचय है, क्योकि अपने अविकार सहज चित्प्रकाशका परिचय हुए बिना गुप्ति समितिका व्यवहार बन नही सकता। तो यहाँ बतला रहे हैं कि संयमकी सिद्धिके निमित्त संयममे शुद्धि बनी रहे इस प्रयोजनसे समितियोका पालन होता है। ये समितियाँ ५ है— (१) ईर्यासमिति, (२) भाषासमिति (३) एषणासमिति (४) आदानसमिति और (५) निक्षेपण समिति।

(१०५) **अन्यत्र कही हुई प्रतिष्ठापनासमितिकी यहाँ निक्षेपणसमिति संज्ञाका निर्देश**— तिष्ठापना समिति नही ली है, क्योकि वह निक्षेपसमितिमे आ चुकी है। निर्जन्तु जमीन देखकर मलमूत्रका क्षेपण करना सो भी निक्षेप करना कहलाया। आदान निक्षेपक्षमे क्या अर्थ

चलता है कि चीजें देख भाल कर उठाना धरना । तो धरना और क्षेपण एक ही बात है । वहा अलगसे प्रतिष्ठापनाको कहनेमे थोडा चित्तमे यह रहता है कि उपकरणका, भली चीजका धरना तो आदान निक्षेपण है और मल मूत्रादिक गदी चीजोका क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति है पर यहां भले और गदेपर ध्यान न देकर केवल क्षेपण पर ध्यान दिया है और यह बताया है कि शोधकर निर्जन्तु जमीन देखकर वस्तु धरना, भली चीज भी धरना मल मूत्रादिक धरना, क्षेपण धरना यह एक क्षेपणमे लिया गया है और इस कारणसे इस प्रकारमे कोई फर्क नही आता । चाहे कोई आदाननिक्षेपण एक नाम चौथी समितिका रखकर ५ वी समितिका प्रतिष्ठापन समिति कहे या चौथी समितिका केवल आदान समिति नाम रखकर पाचवीका नाम क्षेपण समिति कहे । इन दोनो कथनोमे परस्पर विरोध नही है । भाव दोनो का एक है कि कोई चीज रखी जाय तो निर्जन्तु जमीनपर रखी जाय । किसी जीवके प्राण का विघात न हो सके । तो समितिमे मूल प्रयोजन तो किसी प्राणीका घात न हो यह है क्योकि साधु जन जानते हैं कि सर्व प्राणियोमे एक समान चैतन्यस्वरूप है और वह चैतन्य-स्वरूप अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दकी शक्ति रखने वाला है और ये प्राणी कुछ विकासकी ओर बढ रहे हैं, क्षयोपशम इनका बढ रहा है तब तो दो इन्द्रिय तीन इन्द्रिय आदिकमे पहुच रहे है । इनका यदि हमारे द्वारा आघात होगा तो ये सक्लेशसे मरण करेंगे और उस सक्लेश मरणके कारण ये इससे भी नीची पदवीमे जन्म लेंगे । तो उनपर ऐसी अंत. करुणा है कि जिसके कारण मुनि जीवोकी हिंसासे बचनेकी खूब सावधानी रखने हैं । तो इस तरह ये पांच समितियां कही गई है ।

(१०३) **निरागार सयमाचरणमे ईर्यासमितिरूप प्रवर्तनका वर्णन**—इन समितियो मे प्रथम समिति कहा है ईर्यासमिति । ईर्या नाम है चलना । ऐसी सावधानीपूर्वक चलनेका नाम है ईर्यासमिति । सावधानी ४ बातोसे होती है ईर्यासमितिमे — दिनके प्रकाशमे चलना, अच्छे प्रयोजनके लिए, तीर्थयात्रा गुरु मिलन आदिक प्रयोजनके लिए चलना अच्छे भाव रख-कर चलना, चलते समय क्रोध न हो, मान न हो, कषायोकी तीव्रता न हो इस तरह चलना और चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना । जहा इन चारोका समायोग रहता है वहां ईर्या-समिति है । कोई साधु चाहे कि रात्रिको खूब तेज उजेला लेकर यात्रा करी जाय तो वह वर्जित है । कोई सोचे कि खोटे कामसे भी जाय, किसीको गाली सुनानेके लिए जाना चाह रहा, और चले ४ हाथ आगे जमीन देखकर, कही किसी जीवकी हिंसा न हो जाय, तो जहाँ मूलमे परिणाम बिगाड ही लिया, खोटे काममे जानेका सकल्प बनाया तो वहां खुदकी हिसा तो तेज हो ही गई । ईर्यासमिति नही रहती । कोई जाय तो यात्रा आदिकके लिए, मगर

किसी गांवसे विराम लेकर क्रोधवश चल देवे तो वह ईर्यासमिति नही है, और चाहे अच्छी सडकपर जा रहा है, मगर चार हाथ आगे जमीन नही देख रहा और यहा वहाँ बात करके गिर अगल-बगल मटकाकर चल रहा है तो वह ईर्यासमिति नही है। चलते समयमे अधिकतर मौन रखना चाहिए, बीचमे बोलनेकी आवश्यकता हो तो कोई अल्प वचन ही बोले। कोई कहानी छेडकर चले, कोई ज्यादह समझाता हुआ चले तो उसको ईर्यासमितिका कहाँ ध्यान रहेगा ? तो चार बातोंका जहां समायोग है इस प्रकार चले तो उसे ईर्यासमिति कहते हैं।

(१०७) निरागार संयमाचरणमे द्वितीय भाषासमितिका वर्णन—भाषासमितिमे हित मित प्रिय वचन बोले जाते है। कोई व्यक्ति दूसरेके हितके लिए तो बात करे, मगर बात एक सीधी ऐसी दुर्वचनसे करे कि जिसमे उसको चोट पहुंचे तो जिसका हित करनेका भाव है उसको दुर्वचनसे बोले तो वह तुरन्त पीडित हो गया। वह अपने हितको कहाँ सम्हालेगा ? इसलिए वचन बोलना तो प्रिय वचन बोलना उससे ही जीव हितकी ओर चल सकेगा। अप्रिय वचन बोलकर हितकी ओर चलनेकी बात अधिक सफल नही होती। कोई मनुष्य प्रिय तो खूब बोले, मगर मनमे मायाचारी हो उसके हितका ध्यान ही नहीं है तो वह भाषा समिति नही है। हृदय पवित्र होना चाहिए, और दूसरेके हितकी बात चित्तमे न आये तो परहितको दृष्टिमे रखते हुए प्रिय वचन बोले तब तो वह भाषासमिति है नही तो स्वार्थवश रागवश प्रिय वचन बोले तो वह भाषा समिति नही। इसी प्रकार कोई हितकारी वचन तो बोलनेकी प्रवृत्ति रखे और प्रिय भी बोले, मगर अधिक बोले तो वह भी भाषासमिति नही है। मनुष्योमे यह गुण बहुत आवश्यक है जिनको अपना उद्धार करना है, अपनी प्रगति करनी है, अपनेको समता शान्तिमे रखना है उसको यह गुण आवश्यक है कि वह बहुत कम बोले। परिमित वचन बोलनेमे बडे लाभ है। अपनी गम्भीरता नष्ट नही होती। दूसरे—जितना बोला जायगा वह दूसरोंके द्वारा आदरके योग्य रहेगा। अधिक बोलने वालेके प्रति यह भाव रहता है कि इसका तो ऐसा स्वभाव है, इसकी बातमें कोई बल नही है, तो जो परिमित नही बोलता है उसमें गम्भीरता नही रहती। वह सोचकर नही बोल सकता, और बिना सोचे बहुतसी बातें गलत मुखसे निकल जायें तो उनके प्रति उसको खेदका बडा रज होता है कि भावुकतामे या जल्दबाजीमें या अपने अनियन्त्रणसे, स्वच्छंदतासे यदवा तदवा वचन निकल गए। उसका वह खेद भी करता है। तो बहुत अधिक बोलनेसे न खुदका हित है, न परका हित है इस कारण वचन बहुत परिमित ही होना चाहिए। तो जहाँ हितकारी, परिमित प्रिय बचन निकलें उसे कहते हैं भाषासमिति।

(१०८) **निरागारसंयमाचरणमें एषणासमितिका वर्णन**—तीसरी समिति है एषणा समिति। एषण का अर्थ है खोज, अपना आहार खोजना, अर्थ तो सीधा यह है और उसीके अनुसार प्रवृत्ति भी है। भिक्षा वृत्तिसे या कोई वृत्ति पर सख्यान करके जो चर्याकी जाती है उसको विनयके शब्दोमे चर्या बोलते है पर वह है आहार खोजना। शुद्ध निर्दोष सयमके अनुरूप आहार मिले तो करना, यह भाव है साधु जनोका। आहारमे अनेक दोष सम्भव हैं। प्रथम तो आहार ही शुद्ध न हो तो वह तो ग्रहण करने योग्य ही नही। दूसरे आहार देने वाले यदि अपने ऊपर भार समझे, विवश होकर देना पड रहा है, उसमे विनय भक्ति न हो तो वह आहार करना योग्य नही है। किसीकी जबरदस्तीसे आहार बनाया गया हो ऐसा विदित हो जाय तो वह भी आहार योग्य नही है। तो ऐसे मोटे-मोटे दोष तो प्राय सभी अपने चित्तमे समझ लेते है, पर उसमे ३२ प्रकारके अतराय न रहे, दाताकृत दोष न रहे, पात्रकृत दोष न रहे, ऐसा बहुत बडा विधान आगममे है। उन सब दोषोसे रहित शुद्धनिर्दोष आहार लेना एषणासमिति है। जिन जिन विधियो पूर्वक आहार ग्रहण करने योग्य माना गया है उनपर दृष्टिपात करेंगे तो प्रत्येक बातमे दो बातें नजर आयेंगी कि दूसरे जीवका प्राण विघात न हो और स्वयमे कायरता, दीनता, उद्दण्डता आदिक दोष न आ पायें तो इस तरह विशुद्ध भाव सहित विशुद्ध आहारकी खोज करना सो एषणा समिति है।

(१०९) **निरागारसंयमाचरणमे आदानसमितिका वर्णन**—चौथी समिति है आदान समिति। कुछ योग्य वस्तु ग्रहण करना तो पीछेसे उस वस्तुको शुद्ध करना। कोई जतु छोटी चीटी वगैरह उसपर हो तो कोमल पिछीसे वे दूर हो जायेंगी। फिर उस चीजको उठाना, और उस वस्तुको उठाकर फिर उस वस्तुकी तली को भी पिछीसे शुद्ध करना क्योकि पहले तो उस वस्तुका ऊपरी भाग ही शोधा गया, पर उस वस्तुका जो तल भाग है वहाँ भी तो जीवोका रहना संभव है। तो वस्तुके ऊपरी भागको शुद्ध करना, उठाना और वहीं थोडा उठाये हुएमे उस वस्तुके तल भागको भी शुद्ध करना, उसके पश्चात् अन्य जगहमे जाना, इस तरहकी सावधानी इस आदान समितिमे होती है। साधुजनोको अन्य वस्तुवोके उठानेका तो कुछ प्रयोजन ही नही, संयमका उपकरण पिछी सो पिछी तो देख-भालकर उठा लिया और उठाकर फिर अपनी ही हथेलीसे उसको थोडा फटकाकर झाड लिया, यह तो पिछी उठानेका ढग है। कमण्डल उठाये तो पहले कमण्डलके ऊपरी भागको शुद्ध करें और उठाकर फिर तल भागको साफ करे और इसी तरह ज्ञानका उपकरण जो वस्तु है उसे भी ऊपर फिर नीचे शुद्ध करके उठाये तब उसको प्रयोगमे लाये। इस तरह वस्तुके उठानेमे जो सावधानी है उसे कहते हैं आदान समिति।

(११०) निरागार संयमाचरणमें निक्षेपसमितिका वर्णन--५वीं समिति है निक्षेप समिति। किसी भी चीजको धरना या कहीं मल, मूत्र, कफ, थूक आदिकका फेंकना आवश्यक है तो उस जगहको देख ले कि वहाँ कोई जीव जतु तो नही है, इसलिए जतुरहित स्थानपर वस्तुका धरना या मल मूत्रका क्षेपण करना सो निक्षेप समिति है। सभी समितियोमे अपने अविकार भावको बनाये रखना और जीवहिंसा न हो सकना, इन दो बातोकी सावधानी रहती है। तो जिनेन्द्रदेवने सयमकी शुद्धिके निमित्त इन ५ समितियोका आख्यान किया है।

भव्वजणवोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥ ३८ ॥

(१११) भव्यजनसंबोधनार्थ ज्ञानात्मक अन्तस्तत्त्वका उपदेश—इस ग्रन्थमे प्रथम यह बताया गया था कि आचरण दो प्रकारके होते है—(१) सम्यक्त्वाचरण और (२) संयमाचरण। सयमाचरण दो प्रकारका होता है—(१) सागार संयमाचरण और (२) निरागार सयमाचरण। सागार सयमाचरणका नाम है सयमासयम और निरागार सयमाचरणका नाम है सकलसयम। तो व्यवहार सकलसयमका अब तक वर्णन किया गया है। अब निश्चय सयमका वर्णन इस गाथामे बताया जा रहा है। निश्चय सयम है ज्ञानमे ज्ञानस्वरूपका स्थिर होना। आत्माका जो सहज ज्ञानस्वभाव है उसरूप अपनेको मानकर उसके अनुरूप वृत्ति होना अर्थात् मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहना यह है निश्चयसंयम, सो इस ज्ञानात्मक आत्माको जिनेन्द्रदेवने भली प्रकार बताया है, सो वह भव्य जीवोंके सम्बोधनके लिए बताया है, अन्य दार्शनिकोंने बताया तो ज्ञानको ही है। चाहे उसे किसी रूपमे ढालकर बतायें, पर प्रयोजन यह है कि आत्मकल्याण कैसे हो ? और अपने ज्ञानको किस तरह बनाया जाय ? अब वस्तुका स्वरूप जिस भाँति नहीं है उस भाँति कल्पना करके ज्ञानको बनाया तो वह हितमार्गके विरुद्ध पड गई। मगर बताया ज्ञानके लिए ही है, सो उस ज्ञानका स्वरूप जैसा अन्य लोगोने बताया है वह यथार्थतासे स्खलित है और सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र देवने जिस ज्ञानका स्वरूप बताया है वह निर्बाध सत्यार्थ है और जो वास्तविक ज्ञानस्वरूप है सो ही आत्मा है। ज्ञान और आत्मा ये दो अलग-अलग तत्त्व नहीं है। आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जो ज्ञानमय है। ज्ञानात्मक वस्तुका नाम आत्मा है।

(११२) ज्ञान व आत्माके विषयमे भेदाभेदविपर्ययसे तत्त्वस्खलनका प्रारम्भ—प्रथम तो भेदाभेदविपर्ययसे ही अनेक दार्शनिकोका स्खलन हुआ है। आत्मा जुदा पदार्थ है, ज्ञान जुदा पदार्थ है, और चूंकि समझनेके लिए स्वरूप तो जुदे-जुदे बताने पडते हैं सो उनको इस स्वरूपदर्शनका ऐसा बल मिला कि जिससे बढकर वे ज्ञानको अत्यन्त भिन्न और आत्माको

अत्यन्त भिन्न समझने लगे । जब भिन्न समझा तो एक समस्या आगे खडी हो जाती है—तो क्या आत्मा ज्ञानरहित है ? जब ज्ञान जुदी वस्तु है, आत्मा जुदी वस्तु है तो आत्मा नो ज्ञानरहित कहलाया । ज्ञान तो जुदी चीज है, तब और इलाज सोचना पडा कि भाई तत्त्व सो अलग-अलग है ज्ञान और आत्माका, पर ज्ञान और आत्माका समवाय सम्बन्ध है । अब पृथक्-पृथक् सम्बधको समवाय सम्बन्ध कहा है और पृथक् रहने वाली वस्तुओका जब सम्बन्ध बना तो उसे सयोग सम्बध कहा है, फिर एक समस्या यह खडी हो जाती कि जब ज्ञान अलग चीज है, आत्मा अलग चीज है तो आत्माकी तरह आकाश या परमाणु ये भी अलग-अलग चीज हैं, तो यह ज्ञान आत्मासे ही क्यो चिपटता है, आकाशसे भी अपना सम्बध बना ले । परमाणुसे भी सम्बध बना ले । तो ऐसी जब समस्या खडी हो जाती है तो दांदलापट्टीसे जो चाहे कह दिया जाय, मगर ठीक बात नही बनती । फिर स्पष्ट बात तो यह है कि जो वस्तु अलग-अलग है, स्वतत्र सत् है तो सद्भूत वस्तुमे गुण पर्याय होनी चाहिए । उनके प्रदेश जुदे होने चाहिएँ, उनका उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होना चाहिए । सो यह बात ज्ञानगुणमे घटित नहीं होती । इसलिए ज्ञान जुदा पदार्थ हो, आत्मा जुदा पदार्थ हो यह कथन सम्यक् नही है । आत्मा ही ज्ञानात्मक है ।

(११३) **जिनभाषित ज्ञानमय आत्मतत्त्वके श्रद्धानमे मोक्षमार्गोपाय प्रवर्तन**—स्वरूप विपर्यय भेदाभेदविपर्यय आदि अनेक वर्णन अनेक दार्शनिकोने किया है, परन्तु जो स्वय ज्ञान का अनुभव करके पार हुए है और जिनका विशुद्धज्ञान हुआ है, तीन लोक तीन कालके सहज जाननहार है उनकी दिव्यध्वनिसे प्रकट हुआ जो वस्तुस्वरूप है और उस दिव्यध्वनिसे गूँथा गया जो आगममे बताया हुआ स्वरूप है वह निर्बाध और यथार्थ हैं । उस ज्ञानस्वरूपको अपने ज्ञानमे लेकर स्थिर होवे तो वह है निश्चय संयम । व्यवहारका सयम भी इस निश्चय-सयमकी शुद्धिके लिए करना बताया है । यदि कोई अपने इस निश्चय सयमके उद्देश्यसे रहित हो तो उसके लिए व्यवहार सयमका कोई अर्थ नही रहता । कोई भी कुछ काम करता है तो उसका प्रयोजन तो होता है कि यह काम किसके लिए किया जा रहा ? केवल इतना कहनेसे काम न चलेगा कि महाव्रत समितिका पालन मोक्षके लिए किया जा रहा । इसमे कोई स्पष्ट बात नही आती । किन्तु व्यवहार सयमको प्रवृत्ति ऐसे वातावरणके लिए की जा रही है कि जिसमे निश्चयसयम की शुद्धि बन सके । तो निश्चयसयमकी साधनाके लिए व्यवहारसयम है, तब कोई यह भी पूछ सकता है कि निश्चय सयमकी साधना क्यो की जा रही है ? तो निश्चय संयमकी साधना अपने कैवल्य स्वरूपको प्रकट करनेके लिए की जा रही है । तो जो कैवल्यस्वरूपकी व्यक्ति है उस ही का नाम मोक्ष कहलाता है । तो

जिनेन्द्र देवने भव्य जीवोके सम्बोधनके लिए ज्ञान और ज्ञानका स्वरूप बताया है और वह है ज्ञानस्वरूप आत्मा। सो उस ज्ञानस्वरूप आत्माको भले प्रकारसे जानें, जिसकी जानकारी से शान्तिका मार्ग मिलता है।

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ मण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिणसासण मोक्खमग्गुत्ति ॥३६॥

जो पुरुष जीव और अजीवकी विभक्तिको जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है। विभक्ति कहते है भेदको। विशेष भेदका नाम विभक्ति है। विभाग, विभक्ति, भेद ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। जीव और अजीवका भेद वही समझ सकता है जिसने जीव और अजीवका सही स्वरूप जाना। जिसका जो स्वरूप है वही उसके सम्बन्धमे ज्ञात रहे तो भेद जाना जा सकता है। जैसे चावल शोधना है तो चावल और अचावल इनका स्वरूप जाना हो तब ही शोधा जा सकता है, चावल तो यह है बाकी सब अचावल है। कूडा हो छिलका हो दूसरे दाने हो वे सब अचावल हैं। यह ज्ञान रहता है तब ही तो वह चावल अचावलसे अलग करना, ऐसे ही आत्माका लक्षण है चैतन्य, उपयोग प्रतिभास, जाननमात्र और अनात्माका चिन्ह है रूप, रस, गध, स्पर्श आदिक और जीवका स्वरूप है शुद्ध चैतन्य, सो उसके अतिरिक्त कोई जीव मे भी भाव प्रतिफलित हुआ वह औपाधिक है, परभाव है, वह भी जीव नही कहा गया। तो समस्त परद्रव्योसे और समस्त औपाधिक भावोसे जो अपनेको भिन्न निरखता है वह पुरुष जीव और अजीवकी विभक्तिको जानता है और इस भेदभावको जानकर जब अपने अभेद जीवस्वरूपका अनुभव करता है तो उसे सम्यग्ज्ञानी कहते हैं। वस्तुत ज्ञान उस ही का नाम है कि जिसके स्वरूपका अनुभव बन चुका है, उसको कहने सुनने से या अन्य प्रकार से जाननेका नाम सम्यग्ज्ञान नही है। सो वह ज्ञानी पुरुष जो मोक्षमार्गमे लग रहा है वह जीव अजीवकी विभक्तिको जानता है।

जब कोई यह पहिचान ले कि यह मैं चैतन्यमात्र आत्मा हू। इसके अतिरिक्त समस्त परभाव मेरेसे भिन्न हैं। ये अनात्मा हैं तो अब वह जिस किसीको भी लोकमे जानेगा, जानकर भी सम्यग्ज्ञानी कहलायगा और जिसने जीव अजीवका भेद नही समझा, अपने अविकार सहज चैतन्यस्वरूपको नही अपना पाया वह जिस किसी भी चीजको जानता है—घर वालो। मकान, नगर, कायदे-कानून सब कुछ जानकर भी वह मिथ्या ज्ञानी है, क्योकि जिस-जिसको भी वह जानता है अज्ञानी तो उनमे एक पदार्थको दूसरे पदार्थमे मिलाकर जानता है, एकका दूसरा है, एकने दूसरेको अमुक रीतिसे परिणमा दिया है। सारी बात यो सयोग रूपसे समझता है, और जो एकका धर्म दूसरेमे मिलान करके श्रद्धा करे वह मिथ्याज्ञानी है। तो जो

जीवका स्वरूप जीवमे, अजीवका स्वरूप अजीवमे निरखता है वह सम्यग्ज्ञानी है। अब सम्य ग्ज्ञानी होता हुआ वह क्या करता है? रागादिक दोषोसे रहित होता है। जिमने चावल और अचावलको सही जान लिया, अब वह क्या करता है कि जितने अचावल हैं उन सबको दूर कर देता है। उसका उद्देश्य है चावलको ग्रहण करना, पकाना, खाना। तो वह अचावल को अलग हटाता है, तो ऐसे ही जिसने जीव और अजीवके यथार्थ स्वरूपको जाना है तो वह अजीवको दूर करता है। दूर कहां करेगा, कही लोकमे बाहर भगा देगा क्या? जहाँ है सो पडा रहे अजीव। उपयोग उसे स्वीकार न करे और उससे उपयोगको विमुख रखे, यह ही उसका दूर करना कहलाता है। तो जो रागादिकको दूर करता है ऐसी स्थितिमे रहता है या इस स्थितिका पौरुष करता है सो यही तो जैनशासनमे मोक्षमार्ग बताया है। श्रद्धान, ज्ञान और आचरण ये तीनो ही ज्ञानमात्र बने रहनेमे आ जाया करते हैं। रागादिक दोषोको, दूर किया तो क्या रहा? यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप रहा। इसमे रागादिकका सम्पर्क चल रहा था, वह सम्पर्क समाप्त हो गया, तो ज्ञानका ज्ञानस्वरूप रहना यह है विधि रूप बात, और रागादिक दोषोका दूर देना यह है निषेध मुखेन बात। अर्थात् जीव अजीवको यथार्थ जानकर अजीव को दूर कर देना और जीवमे ही मग्न होना यह कहलाता है मोक्षमार्ग।

दसणणाणचरित्तं तिण्ण वि जाणेह परमसद्धाए।
ज जाणिऊण जोइ अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥४०॥

दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनोको परम श्रद्धासे जाना और ऐसी श्रद्धासे जाना, ऐसा एक तान होकर जाना कि वहां विकल्प दूर हो जायें और यह मात्र ज्ञानस्वरूप रहे इस विधि से जो उन तीनोको जानता है वह योगी यथा शीघ्र निर्वाणको प्राप्त करता है अपने अन्दर यह मैं आत्मा एक पदार्थ हूं। एक वह कहलाता है कि जिसके खण्ड न बनें। भले ही कुछ लोग कहते हैं कि आधा या पाव। आधा या पाव कोई वस्तु नहीं होती। कई चीजोके समूहको एक मान रखा है, इस दृष्टिसे वे आधा या पाव कहते है। जैसे आधा किलो कहा तो उसकी दृष्टिमे क्या एक किलो पदार्थ नही है? अरे १ हजार ग्राम (एक किलो) उस की दृष्टिमे है तब वह आधा व पाव बोल सका। अगर एकको अभेद रूपसे निरखता तो आधा कह ही न सकता था। जैसे आधा रुपया। उसकी निगाहमे रुपया अभेद रूप नही है किन्तु उसमे १०० पैसे मान रखा है सो कहनेको तो कहा है रुपया मगर अर्थ उसका यह है कि १०० का आधा। यदि कोई वस्तु एक है तो वह अखण्ड ही होती है। और यदि उसके खण्ड होते हैं तो उसको एक न समझना। जैसे कागज काठ इनके टुकडे करके जाना तो पाटियो के दो टुकडे कर दो। दो टुकड़े हो गए तो वस्तुत: वह एक चीज नही है। अनंत परमाणुओं

का वह पिण्ड है और उसमे इसने अपने मनोरथके माफिक जैसा कि सोच रखा है किसी काम के लिए उसे हम एक कह देते है। जो वास्तवमे एक पदार्थ है उसका कभी खण्ड नही होता। वास्तवमे एक पदार्थ है परमाणु, सो परमाणुका कभी खण्ड नही होता, आधा परमाणु न होता। ये दिखने वाले सब स्कध है, अनन्त परमाणुओका पिण्ड है, इससे इसका आधा हो जाता, सो आधाके मायने यह है कि वे पूरे-पूरे पदार्थ अनन्त थे, सो कुछ पूरे पदार्थ एक ओर हो गए, कुछ पूरे पदार्थ एक ओर हो गए, तो यह मैं आत्मा एक हू, अखण्ड हू, तो इसका जो भी परिणमन होगा वह एक ही होगा। हू मैं और किसी एक अवस्थामे आ गया। तो वस्तुतः परिणमन अखण्ड और वस्तु भी अखण्ड। मैं अखण्ड हूँ और मेरी प्रति क्षणमे जो-जो भी पर्यायें होती है वे भी अखण्ड अखण्ड होती हैं। अब इतना कहनेसे तो कुछ समझमे आया नही, तो इस अखण्ड वस्तुकी समझ बनानेके लिए व्यवहारसे खण्ड करके समझाना पडता है। मैं आत्मा अखण्ड हू। आत्मा अखण्ड है इस बातमे अज्ञानी जन कुछ समझ नही पाते तो उनको गुण भेद करके समझाया जाता है। जिसमे ज्ञान हो वह आत्मा, जिसमें श्रद्धान हो वह आत्मा, जिसमे चारित्र हो वह आत्मा। तो ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र एक अखण्ड आत्माकी तारीफ है। कही वे तीन भिन्न-भिन्न वस्तु नही हैं। तो जैसे एक अखण्ड आत्माको समझानेके लिए गुणभेद बनाया, बताया तो अखण्ड जो एक परिणाम है, पर्याय है उसको समझानेके लिए भी गुणानुसार पर्यायभेद बताकर श्रद्धा जाना है। जैसा जो यह नाना प्रकारका जानन चल रहा है यह ज्ञानगुणकी पर्याय है और जो किसी वस्तुमे हितरूपसे ज्ञान करके धारण करनेकी वृत्ति है वह श्रद्धा गुणकी पर्याय है और जो रम जानेकी परिणति है वह चारित्र गुणकी पर्याय है। तो मोक्षमार्ग भी एक परिणाम है। जो भी स्वच्छता है वही मोक्षमार्ग है। अब उसको स्पष्ट रूपसे कैसे समझा जायगा ? तो इसके लिए व्यवहारसे भेद करके समझाया जाता है, और मोक्षके लिए उपाय कैसे बन सके यह भी समझानेके लिए भेद करके बताया जाता है, तो वही भेद हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सो इन तीनोको परम श्रद्धासे जानें, उसको जानकर यह जीव शीघ्र मोक्षको प्राप्त करता है। परम श्रद्धासे जाननेका भाव क्या है कि ऐसी लीनताके साथ जाना कि वह अभेद परिणाम बने और मात्र एक ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव रहे, यह है मोक्षमार्ग। सब चीजोको एक ज्ञान के रूपमे निहारनेकी कला आ जाना यह मुमुक्षुके लिए बहुत बडा आलम्बन है। जैसे सुख क्या ? ज्ञानका इस प्रकार परिणमन होना, इस ढगसे जानना कि यह चीज मेरे लिए बडी सुखकारी है, इससे मेरेको बडा आनन्द है। इसके रहनेसे मैं सनाथ हू, अच्छा हू, इस ढगसे जो ज्ञानका परिणमना है वही तो सुख है। और दुःख भी क्या है ? मेरा बेड़ा प्यारा था,

वियोग हो गया अथवा इतना धन कम हो गया, अभेद रूपसे जो ज्ञानका परिणमना है वही दुःख है। तो मिथ्यादर्शन क्या है कि जगतके पदार्थोंको एक दूसरेका संबधी माननके ढगसे जानना यह मिथ्यादर्शन है। तो इस तरहसे देखें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र भी एक आत्माका ही नाम है। वह ज्ञानस्वरूप है। तो सम्यग्दर्शन क्या कि जीवादिक प्रयोजनभूत तत्त्वोको यथार्थता की श्रद्धा सहित जानना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्ज्ञान क्या है? इस ज्ञानगुणका पदार्थोके यथार्थ जानन रूपसे परिणमन सम्यग्ज्ञान है और सम्यक्चारित्र क्या? ज्ञान तो ज्ञान ही है। वह ज्ञान ज्ञानमात्र ही रहे, अपने रागादिकके परिहारके स्वभाव से उस ज्ञानका परिणमन रहे, यह है सम्यक्चारित्र। तो इन तीनोको परम श्रद्धासे जानो, एक ज्ञानमात्रके रूपसे ध्यान करो, उस रूप अपनेको अनुभवो तो इन उपायोसे योगीजन जो ध्यान करते है वे शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त होते है।

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता।
हुति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥४१॥

(११४) **ज्ञानजलसे विकारमलक्षालन**—इस गाथामे एक दृष्टान्तकी निर्देशनापूर्वक यह बताया है कि ज्ञानसे मोक्ष हो जाता है। ज्ञानरूपी जलको प्राप्त करके उस ज्ञानजलसे अपने आत्माका स्नान कराकर जिससे कि विकल्प रागादिक धूलियां कूडा कचडा दूर हो जाते है, इस तरह उस ज्ञानरूपी जलसे अपने को स्नान कराकर जीर्ण शिवालयके निवासी हो जाते हैं, और वे तीन लोकके चूडामणि होते है। जैसे लोग क्या करते है कि अशुद्ध होकर सबसे निपट कर फिर जलसे खूब नहाते हैं और नहानेके बाद अपने मकानमे, अपने निवास स्थानमे जाकर ठाठसे बैठकर संतोष अनुभव करते है। तो निकट भव्य आत्मा ज्ञानजलसे नहाकर जिससे कि रागादिक मल धूल पसीना मैल ये सब दूर हो जाये, ऐसा स्नान कराकर फिर वे ऊँचे महलमे मोक्ष महलमे जाकर वहाँ सदा कालके लिए परम सहज अनन्त आनन्द भोगते हैं। इस प्रकारके कथनमे यह दृष्टि दिलाई गई है कि जब तक अपने आत्माको ज्ञानजलसे स्नान न करा दें तब तक मोक्षमार्गमे गमन नही होता। ज्ञानजलसे स्नान करनेका अर्थ है कि अपनेमे सम्यग्ज्ञानका प्रकाश बढाना, भरना। सम्यग्ज्ञानका प्रकाश वह है कि जहाँ सर्व पदार्थ अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्तामे है, यह दृष्टिमे आता है।

(१११) **कषायजागरण न होनेका कारण वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान**—ज्ञानी जीव को कषायें नही जगती, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टिमे सब पदार्थ, प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमे ही सत् है, यह ज्ञान हो रहा है। प्रत्येक परम णु अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावमे है। तो उसका किसी बाह्य पदार्थसे सम्बन्ध नही। किसी

बातपर, पदार्थपर मेरा अधिकार ही नही । मैं तो इन सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र हू, यह उसकी दृष्टिमे बसा है तो अब क्रोध किस बातपर आये ? क्रोध आता है तब जब यह ज्ञानमे हो कि मुझसे यह पदार्थ छीन लिया गया और इससे मेरेको सुख मिलता था आदिक कोई कल्पन जगे तो क्रोध उमडता है । और जहाँ यह बात ज्ञात है कि मैं आत्मा ज्ञानघन हू, ज्ञानसे निरन्तर परिणमता रहता हू, और यह ही मेरी दृष्टिमे रहे, ऐसी स्थिति हो तो वह कहलाता है ज्ञानजलसे नहाना । नहानेपर जैसे धूल, पसीना आदि नही चिपटते, ऐसे ही ज्ञानजलसे नहानेपर शरीर, कर्म, विभाव ये नही चिपटते । सो ज्ञानी जन ज्ञानजलसे अपने समस्त प्रदेशोको नहा डालते हैं । अब उन्हे घमड किस बातपर आये ? यहाँ कुछ मेरा है नही । किसको यहाँ अपनी शान बतायें ? यहाँ कोई ईश्वर तो हैं नही कि जो मेरे सुख दुख मे फर्क डाले । किसी पदार्थसे मेरा कुछ सम्बध ही नहीं । ऐसा जाननेसे उनके मान कहाँ रह सकता । मायाचार भी ज्ञानी जनोमे कहाँसे आये ? मायाचार करनेमें भीतरमे बड़ा कष्ट और परिश्रम उठाना पडता है । कुछ विचार ही करें इस बातपर कि ज्ञानी जन इन व्यर्थकी बातों मे कठिन परिश्रम करेंगे क्यो ? और कोई खुदगर्जी हो, इस ससारके पदार्थोंमे से किसी पदार्थको ग्रहण करने, सग्रह करनेकी बुद्धि हो, जिसमे हित समझा हो तो उसे अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिए कुछ मायाचार करना पडेगा, पर सर्व झझटोंसे दूर हुए मुनिराज इस खोटी प्रवृत्तिको क्यो पसद करेंगे ? ज्ञानी जीवके माया कपट नही होता, और ज्ञानीमे लोभ भी नही होता । किसी परवस्तुको अपनायें क्यो ? किसका सचय बनायें कि मेरे आत्माको सुख-शान्ति मिले ? तो यथार्थ ज्ञान हो जानेपर चित्तमें विकार नही ठहरते, और अविकार चैतन्य-स्वरूपकी भावनामे उसके क्षण व्यतीत होते रहते है ।

(११६) **ज्ञानजलसे विकारमल धोकर योगियोंका शिवालयवास**—यहाँ यह बतला रहे हैं कि पहले तो ज्ञानजल प्राप्त करें, नहाना तो बादमे होगा । पहले पानी तो भर लें, और फिर उस जलसे खूब शरीरको मल-मलकर स्नान करें और ऐसा स्नान करें कि फिर मैल न रहे शरीरपर तो उससे शरीर हल्का होगा, फिर ठाठसे बदन पोछकर खाट या तखत पर बैठकर एक अपनेमे बड़ा विश्रामसा अनुभव करते, समझते कि निपट गए, सब कामोसे फुरसत पा गए, ऐसा ख्याल रखकर आराम करते, तो ज्ञानी पुरुषमे भी ये ही सब विधियाँ चलती हैं । पहले श्रुतज्ञानका अभ्यास करके उस ज्ञानजलको इकट्ठा अपनी बुद्धिके पात्रमे रख लिया । अब मजेसे किसी भी समयमे ज्ञानजलसे अपने सर्व आत्माको नहाता है । प्रत्येक गुण सिद्ध होते हैं, और मल-मलकर नहाता । कोई राग शेष रह गया हो तो भेद भावना करके ज्ञानजलसे उसे पोछकर दूर कर हटा देता है । जब केवल एक ज्ञानमात्र ही रहता है, उसपर

और कोई मैल नही है तो फिर उस ज्ञानको खूब अनुभवमे लेकर एक परम सतोषयुक्त होकर अपनेको निर्भार अनुभव करता है, उसके ऊपरसे सारा बोझ हट गया। बोझ था वह जीव पर रागद्वेषका। जैसे शरीरपर बोझ होता है पसीना और धूलका ऐसे ही जीवपर बोझ होता है रागद्वेषका। तो जीवने रागद्वेष धूलको मल-मलकर दूर कर दिया, अब भाररहित होकर सर्व कर्मोंसे दूर होकर मोक्षस्थानपर पहुचता है, उस बडे मकानमे जहा अनन्त सिद्ध बस रहे हैं, वहां जाकर यह अपनेको निर्भार, पवित्र, आनन्दमय अनुभवता है, सो यो दर्शन, ज्ञान, चारित्रको जानकर योगी अपनेमे अनुभव कर शीघ्र निर्वाणको प्राप्त होता है।

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लहं।
इय णाऊ गुणदोस त सण्णाण वियाणेहि ॥४२॥

(११७) **ज्ञानगुणविहीन पुरुषोको स्वेष्टलाभकी असिद्धि**—जो पुरुष ज्ञान गुणसे रहित है वह अपने इष्ट लाभको नही प्राप्त कर सकता। इष्ट लाभ क्या है ? सर्व संकटोसे सदाके लिए छुटकारा पाना, इसीको कहते है मोक्ष याने केवल अकेला रह जाय, यह सबसे बडा अभीष्ट लाभ है, क्योकि अकेलेमे विकार नही होता। अकेले स्वरूपमे आकुलता नही, तो ऐसा जो संकटमुक्तिलाभ है वह ज्ञानगुणमे रहित होकर नही पाया जा सकता और ज्ञानगुण क्या ? अपना जो अपने ही सत्त्वके कारण अपनेमे सहज ज्ञानभाव है—ज्ञानशक्ति, ज्ञानस्वरूप वह ज्ञानमे आये, इसे कहते है ज्ञानगुण। इस ज्ञानगुणसे रहित पुरुष अपना इष्ट लाभ नही पा सकता। चाहे मुक्तिलाभके लिए कोई कितना ही तप करे, व्रत करे, वह सब केवल व्यर्थ का परिश्रम मात्र है। जिस कार्यकी जो विधि होनी है वह कार्य उसी विधिसे बनता है। जैसे—कर्मबधन, ससारबधन, जन्ममरण, उसकी विधि है कि ससारमे ममता रखे, जन्ममरण मिलते ही जायेंगे। जन्ममरणसे छुटकारा पानेकी इच्छा हो तो उसकी विधि है कि देहको अत्यन्त भिन्न जानकर और अपने ज्ञानस्वरूपको निराला जानकर अपने ज्ञानस्वरूपमे ही दृष्टि दें। यह है मुक्तिलाभका उपाय। सबसे बडी कठिन कोई विपदा है तो वह है अज्ञान। मगर यह अज्ञानी जीव अज्ञानमे ही राजी है। अज्ञान और मोह एक ही बात है। अपनेसे भिन्न सत्ता वाले किसी भी पदार्थको यह मेरा है, मेरा था, मेरा होगा, इस तरहकी जो कषाय जगती है वह अज्ञान है, क्योकि वस्तुस्वरूपके विरुद्ध बात सोची जा रही है। अपना आत्मा ही अपना है। देह तक भी अपना नही और अपने उपयोगमे झलकने वाले विकल्प रागद्वेष, विकार विभाव भी अपने नही है, फिर अपना है कौन दुनियामे ? यदि यह प्रकाश बना रहे चित्तमे तो उसका कल्याण है और एक यह ज्ञानप्रकाश न रहे तो अब भी भटकना है और आगे भी भटकना रहेगी। तो ज्ञानगुणसे रहित पुरुष अपने इष्टका लाभ नही पा सकता।

(११८) **ज्ञानके गुण दोष जानकर गुणमे अनुरक्त होकर सम्यग्ज्ञानकी प्रगतिकी संभवता**—आत्महितके लिये ज्ञानगुणकी प्राप्ति करना चाहिए, और प्राप्ति तब ही हो सकेगी जब कि ज्ञान गुणके गुण और दोष समझमे आयें। हमारे ज्ञानमे यह तो दोष है, ऐसा जो जानेगा तब ही वह दोषोंको छोड सकेगा उसके ज्ञानमे दोष क्या है कि अत्यन्त भिन्न चीजको अपनी समझना यह ज्ञानका दोष है। इस आत्माका तो एक परमाणुमात्र भी नही है और अज्ञानी लपेट रहा है। सारी जायदादको, सारे कुटुम्ब रिस्तेदारको कि यह मेरा है जो अज्ञान रखेगा वह दु खी होगा। उसकी जगह दु खी होने कोई दूसरा न आयगा। इस जीवको सुखी शान्त करने वाला कोई भी दूसरा नही हो सकता। खुद ही अपने ज्ञान गुणको सम्हालें तो खुद सुखी शात हो सकते। ज्ञानका दोष जानें कि जो ममताके भाव जगते हैं, बाह्य पदार्थोंकी तृष्णाके भाव जगते हैं, भिन्न पदार्थोंमे अपना लगाव रखनेका भाव जगता है वह सब ज्ञानका दोष है। इस दोषको त्यागे बिना हम गुणमे नही आ सकते। तो ज्ञानका दोष जानकर ज्ञान के दोषको छोडना और ज्ञानके गुणको जानकर ज्ञानका गुण ग्रहण करना, ज्ञानका यह ज्ञान अपने ही स्वभावको निरन्तर जाननेका काम करता है और ज्ञानका जो शुद्ध जानन है उस जाननमे विकार नही, जाननमे कोई कलक नही। वह जानन तो आनन्दको ही साथ लिए हुए है। जहाँ सही जानन है, शुद्ध जानन है, रागद्वेषरहित जानन है वहाँ अपने आप ही आनन्द बरत रहा है। तो ज्ञानगुणका स्वरूप ही है कि विशुद्ध जाननके अतिरिक्त कुछ चाह न हो होना, जो कुछ ज्ञानमे आया बस जान लिया, अब इसके आगे हमारा कुछ प्रयोजन है ही नही, क्योंकि मैं पर पदार्थमे कुछ भी कर सकनेमे समर्थ ही नही। पुण्यके उदय है, मन चाहे कुछ काम हो जाते हैं तो यह अज्ञानी जीव समझता है कि मैं बडा महान हूँ। जो चाहता हू सो हो जायगा। अरे महानता काहेकी ? प्रथम तो जो चाहे सो गरीब, किसी परवस्तुकी चाह हो रही है। चाहकी और काम बना तो कही यह नही है कि आपकी चाह होनेसे काम बना ? पूर्व पुण्यका ऐसा योग है कि योग बन गया, पर अपने चाहनेसे काम बना यह बात गलत है। चाहसे तो आकुलताका काम बनता है, पर बाहरी पदार्थका काम नही बनता। तो ज्ञानका गुण यही है कि अपनेमे सहज वृत्तिका देखन जानन हो रहा है। उस जाननमात्र तत्त्वको निरखे यह है ज्ञानका गुण। तो ज्ञानके दोष और ज्ञानके गुणको जानकर इस सम्यग्ज्ञानका पालन करें तो ज्ञानगुणसे सहित हो जायगा तो हमको सकट मुक्तिका लाभ मिलेगा।

चारित्तसमारूढो अप्पासु पर ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुह अणोवम जाण णिच्छयदो ॥४३॥

(११९) **चारित्रसमारूढके आत्मामे परेहाका अभाव**—जो पुरुष ज्ञानी है, चारित्र

पर आरूढ है वह अपने आत्मामे परद्रव्योको रंच भी नही चाहता। जिसने आत्माका सहज सिद्ध स्वय परिपूर्ण कैवल्यस्वरूप निरखा है वह जान रहा है कि इस मेरे स्वरूपमे तो मात्र मैं ही हू। इस स्वरूपमे किसी अन्यका प्रवेश ही नही है और यह स्वरूप स्वय अपने आप निराकुल है। यहाँ आकुलता क्षोभका काम भी नही है। समुद्र तो अपने आप शान्त है। हवाकी प्रेरणा मिले या कोई उसमे डला डाल दिया तो उसमे लहर और भवर उठती है। पानीका समूह तो स्वय अपने आप शान्त है, ऐसे ही अपने आत्माका स्वरूप तो अपने आप स्वय शान्त है। अब वहाँ कर्मके उदयकी झलक हो रही है। कर्मोंके उदयका डला पड रहा है तो अतरग लहर रग बन रहा है। पर अपने आप तो यह स्वय शान्त है। तो ऐसा जो आत्माका सहज स्वरूप है उस स्वरूपको जिसने देखा जाना। अनुभवा उसको यह दृढ सम्यक्त्व है कि मेरे स्वरूपमे किसी परका प्रवेश नही है। तो यहाँ कोई क्षोभ नही है। आकुलता नही है, कोई वेदना नही है। वेदनारहित, विकाररहित, केवल जाननवृत्ति मात्र अपने आत्माका स्वरूप देखकर मैं यह हूँ, ऐसा जो अनुभव करेगा वह ससार सकटोसे दूर होगा और अपने इस अनन्त आत्मस्वरूपको पा लेगा। तो जो पुरुष ज्ञानी हैं और चारित्रपर समारूढ है, वे अपनेमे किसी परकी इच्छा नही करते। परद्रव्यके कषायको लेकर अपने मे राग भाव उठाना, द्वेषभाव उठाना यह अज्ञान है और यही विपत्ति है। जान लो, पर है। उसमे ममता और अहभाव क्यो बना[illegible] जा रहा ? और जिन्होंने बनाया है वे कष्ट पाते हैं। कर्म बध पाते है, ससारमे रुलते है।

(१५०) ज्ञानीकी अनु[illegible]म वृत्ति—ज्ञानी जीव किसी भी परद्रव्यमे रागद्वेष मोह नही करता, ऐसे ज्ञानीकी कहाँ उपमा दी जाय ? जो ऐसा पवित्र ज्ञानमय आत्मा हुआ है उसकी उपमा तो इसी ज्ञानीसे ही हो सकती है। किसी ससारी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीवसे उपमा नही चल सकती। ऐसा पुरुष मुक्तिका सुख प्राप्त करता है तो हे भव्य जीव तू निश्चयसे समझ और यह अपने मनमे निश्चय बना कि मुझे तो सत्य समझ कर रहना है। जैसे और और हठें चलती है कि मेरेको तो यह बनाना ही है। यह जायदाद खडी करना ही है। जैसे ये बहुत-बहुत विकल्प चलते है ये तो सब आकुलता वाले हैं। आप तप करें तो यह करें कि मेरेको तो सबका सत्य स्वरूप समझ कर रहना है। मैं गलत कुछ नही जानना चाहता। तो सत्यस्वरूपकी समझके लिए सही, देख लो प्रत्येक जीव स्वतत्र स्वतत्र हैं या नही ? पर द्रव्य हैं, आपका उसमे कुछ लग ही नही सकता। प्रेममे तो यह हो रहा कि वह अपनेमे दु.खी हो रहा, दूसरा अपनेमे दु खी हो रहा। कहने को यह बात है कि मेरा यह प्रेमी है। मेरेको क्या परवाह है ? अरे जहाँ थोडा भी राग लगा वहाँ उसको कष्ट है। तो सत्य जानें,

हेय उपादेयको जानें, हेय क्या चीज है ? मेरेमे जो अज्ञानभाव बनता है, किसी परद्रव्यके विषयमे जो रागद्वेषका परिणाम बनता है यह रागद्वेष परिणाम हेय है। विकार बनता है, बनना पड रहा है मगर ये परभाव है, हेय है, ऐसा भीतरमे ज्ञान बनानेको कौन रोक रहा है।

(१२१) आत्मसंयमन द्वारा अनुपम शान्तिका लाभ—परिस्थितियाँ हैं मानो कर्म पहले बाँधे थे अज्ञानमे। उन बँधे हुए कर्मोंका उदय हो रहा है। आत्मापर मलिनता छा गई है, पर उसका भी तो जाननहार ही रहा। और यह तो जानें कि मेरे आत्माका सही स्वरूप तो अविकार चैतन्य प्रतिभास मात्र है, यह तो कर्मछाया है। इसमे लगाव रखनेसे फायदा है ही नही, नुक्सान ही है ऐसा जानकर उस परभावसे, उस विकारसे अपने आपको निराला तो समझिये। यह ही समझ इष्टलाभको बना देगी। जो ज्ञानी होकर हेय उपादेयको जानकर सयमी बनता है, आत्मसयमी, किसी भी परको अपनेमे नही मिलाता है वह ही जीव उत्कृष्ट सुख प्राप्त करता है। हर एक जीवको सुख-शान्ति चाहिए, हम आप सबको शान्ति चाहिए। तो एकदम सीधा उपाय तो यह है कि अपना जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसमे ही आत्माका अनुभव करें कि मैं यह हू, मैं अन्य कुछ नहीं हू, भव-भवके दुःख क्यो सहते ? दुःख मिटानेकी जो एक औषधि है, एक यह मंत्र है कि अपने आपमे अपने ज्ञानस्वरूपको देखें और उसमे ही आपा मानकर मैं यह हू, तो मेरा काम मात्र जानना रहा। इससे अधिक मेरेको प्रयोजन ही नही है, क्योकि अन्य कोई काम हो ही नही सकता, तो प्रयोजन क्या बनाया जाय ? सम्यग्ज्ञान पाकर, अपने स्वरूपको निहारकर अपनेमे किसी परको नही मिलाता तो वह इस समय भी पवित्र है और आगे भी वह पवित्र रहेगा और अनुपम आनन्द पायगा।

एवं सखेवेण य भणिय णाणेण वीयराएण।
सम्मत्तसंजमासयदुण्ह पि उदेसियं चरण ॥४४॥

(१२२) चारित्रपाहुडमे सम्यक्त्वाचरण व संयमाचरणके कथनकी सूचना—अब इस चारित्रपाहुड ग्रन्थमे जो कुछ भी वर्णन किया है उसका उपसहाररूपमे कुछ उपदेश किया जा रहा है। जैसा कि पहले कहा गया वह सब सक्षेपमे उपदेश वीतराग जिनेन्द्रदेवकी परपरा से आया हुआ है। क्या कहा गया ? सम्यक्त्वाचरण और सयमाचरण। इन दोनो आचरणो का सक्षेपमे वर्णन किया गया। अष्ट अग गुणसहित २५ दोषरहित सम्यक्त्वको पाकर उसके अनुसार वृत्ति बनना यह तो है सम्यक्त्वाचरण और संयमाचरण हैं दो प्रकारके—सागार सयमाचरण और निरागार सयमाचरण। जो गृहस्थोका सयमासयम है वह तो है सागार संयमाचरण और आगार रहित, घररहित, निष्परिग्रह साधु सतोका जो आचरण है वह है

नरागार सयमाचरण । इन दो के सहारेसे चारित्रका उपदेश किया गया । उस चारित्रसे क्या लाभ होता है कि अपनेमे अनादि अनन्त अन्तः प्रकाशमान सहज ज्ञानस्वभावमे वृत्ति जगती है, मिलन होता है और उस रूप अपने आपका आचरण होता है । ज्ञाता दृष्टा रहना, केवल जाननहार रहना यह है पवित्रता, और किसी परवस्तुको यह मेरा है, इसमे मेरेको बडा सुख है ऐसा मानना यह है अपवित्रता । सयोग-वियोगवश इस जीवको सहना तो सब पडता है, पर ज्ञानपूर्वक, विवेकपूर्वक अपने स्वरूपकी आराधनापूर्वक बाह्य वस्तुओकी ममता छोडे तो उसे नियमसे मुक्तिके आनन्दका लाभ मिलेगा, चाहे कुछ थोडे भव और लगें ।

(१२३) **स्वरूपाचरणकी पूर्णता अपूर्णताके भावसे अनेक कक्षायें**—समस्त आचरण दो से आ गए—(१) सम्यक्त्वाचरण और (२) सयमाचरण । अब जो स्वरूपाचरणकी बात कहते हैं वह एक साधारण तत्त्व है । वह स्वरूपाचरण कही सम्यक्त्वाचरण रूप है, वह स्वरूपाचरण कही सागार सयमरूप है याने सयमासंयममे है, वह स्वरूपाचरण कही निरागार, सयमाचरण रूप है याने मुनियोके सयमरूप और वही स्वरूपाचरण कही निर्विकल्प समाधि रूप है । उससे पहले उसके हल्के रूपमे है, और उन हल्के रूपोमे स्वरूपाचरणका भाग समझें तब तो सही है और उसीको पूरा स्वरूपाचरण मानकर कहे तो वह बात गलत है । तो ऐसा यह स्वरूपाचरण जो नाना स्थितियोमे पाया जाता है वह इस जीवको मोक्षमार्गमे बढाता है । समस्त आचरणोमे इतना तो आवश्यक ही है कि ऐसा अपनेमे अनुभव करें कि मैं अपने आप अपनी सत्तासे अपनी ही शक्तिमे जिस स्वभावरूप हू, बस मैं वही हू, इससे बाहर मैं नही । और इस अंतस्तत्त्वके सिवाय परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है । जो केवल अपने इस निज अतस्तत्त्वको निरखेगा, श्रद्धा करेगा कि मैं यह हू वह नियमसे मोक्षपद प्राप्त करेगा । कुछ भव लगें यह बात अलग है, किन्तु जिसने मोक्षका तत्त्व जान लिया, मोक्षमे ही अकेले ही रहना है और यहाँ भी मेरा स्वरूप अकेला ही है तो जो इस अकेले स्वरूपमें यह मैं हू ऐसा अनुभव करता है वह मुक्तिलाभ क्यो न प्राप्त करेगा ? मुक्ति तो होनी ही पडेगी, क्योकि जिस कार्यकी जो विधि है उस विधिसे चलें तो वह कार्य बनता ही है । ससारकी विधि है बाह्य द्रव्योसे लगाव रखना, मोक्षकी विधि है कि केवल सहज निजस्वरूपमे ही अपने आत्मतत्त्वका अनुभव करना । अब जो निकट भव्य जीव है वह मोक्षकी विधिको चाहता है और जो ससारी जीव है वह संसारकी विधिको ही चाहता है । तो अपनेमे अपने कैवल्यस्वरूपको निरखकर आराम पाना, निर्विकल्प होना, निर्विकल्प होकर ज्ञानसुधारसरूप अनुभव बनाना यह है जीव का हितकारी कदम ।

भावेह भावसुद्ध फुडु रइय चरणपाहुड चेव ।
लहु चउगइ चइऊण अइरेणऽपुणब्भवा होइ ।।४५।।

(१२४) **चारित्रका आधारभूत भाव**—यह चारित्रपाहुडकी अतिम गाथा है। यहाँ आचार्यदेव कह रहे है कि हे भव्य जीव, यह चारित्रपाहुड जो स्फुट रूपसे रचा गया सरलता से सीधे शब्दोमे अपने आत्माकी ही आत्मामे ही रचना जो कुछ बताया गया है सो उसको तुम शुद्ध भावोसे भावो। याने अपने ज्ञानस्वरूपमे ही अपनी भावना बनाओ। स्वप्नमे भी यह बात चित्तमे न आये कि मैं और कुछ हू। मै मनुष्य हू, ऐसी भी श्रद्धा न आ सके, किन्तु मैं ज्ञान ज्योतिर्मात्र एक अमूर्त पदार्थ हू। इस श्रद्धामे शरीरका भान नही रहता। इस ओर दृष्टि रखनेमें देह कर्म और उसके प्रतिफलन विकार ये भी ध्यानमे नही रहते, ऐसी लगनके साथ यह कैवल्य ज्ञानज्योति मेरे ज्ञानमे बनी रहे, यह भावना रखना चाहिए। जैसे प्रत्येक जीवके मनमे इच्छा रहती है कि मेरेको ऐसी बात बने, ऐसा वैभव मिले। तो निकट भव्य जीवके चित्तमे केवल एक ही बात रहती है कि मेरा जो वीतराग सहज निरपेक्ष केवल अपनी सत्तासे जो मेरा चित्प्रतिभास मात्र स्वरूप है उस ही मे आत्माका अनुभव रहे, मैं यह हू। जब ऐसा अनुभव रहेगा तो जैसा अनुभव होता है वैसी परिणति बनती है। मैं ज्ञानमात्र हू, सहज ज्ञानस्वरूप हू। जिसकी यह श्रद्धा रहेगी उसकी परिणति केवल ज्ञातादृष्टा रहनेकी रहेगी, किसी बाह्य पदार्थको अपनानेकी रह ही नही सकती। जैसे मोही जीव केवल जाननहारकी वृत्ति कर नही सकते, ऐसे ही ज्ञानी जीव किसी भी परपदार्थमे लगावकी वृत्ति कर ही नही सकता।

(१२५) **ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वके अनुभवसे परम सहज आनदका लाभ**—जिसने अपने इस सहज ज्ञानस्वभावको अपनाया है, यह मैं हू, इस तरहका जिसका अनुभव दृढ बना है अब उसे जगतमे अन्य क्या चाहिए? जो उत्तमसे उत्तम तत्त्व है, वैभव है वह उसने पा लिया। अब उसे कुछ पानेकी आवश्यकता नही। कोई इच्छा होती ही नही। भले ही चारित्रमोहका उदय है, शरीर साथ लगा है, सो इसके जीवनके नातेसे कुछ वृत्ति करनी पडे, मगर उसका लक्ष्य केवल यह ही है कि मेरेको मेरा जो सहज ज्ञानस्वरूप है उस रूपमे ही अनुभव बने। मैं यह हू। दुनियामे सब जगह खूब घूम आओ, पर मिलेगा कुछ नही। मिलेगा सर्वस्व तो अपने आपमे ही मिलेगा। तो जो मनुष्य अपने इस सहज ज्ञानस्वभावकी आराधना करता है वह शीघ्र ही चारो गतियोंके भ्रमणको तजकर मोक्षको प्राप्त करता है। मोक्ष मायने जन्म मरणसे छुटकारा पाना। सो जो इस चारित्रपाहुड ग्रन्थको बाचता है, पढता है, मनमे अवधारण करता है। बार-बार आत्मस्वरूपका अभ्यास करता है वह चतुर्गतिके दुःखोसे रहित होकर निर्वाणको प्राप्त करता है।

॥ समाप्त ॥

आत्म-कीर्तन

हू स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥ टेक ॥

मैं वह हू, जो हैं भगवान, जो मैं हू वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञाननिधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहि लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुचू निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहू अभिराम ॥५॥

•••○○•••

❊ मंगल-तन्त्र ❊

मैं ज्ञानमात्र हूं, मेरे स्वरूपमे अन्यका प्रवेश नही अत निर्भार हू।
मैं ज्ञानघन हू, मेरे स्वरूपमे अपूर्णता नहीं, अतः कृतार्थ हू।
मैं सहज आनदमय हू, मेरे स्वरूपमे कष्ट नही, अतः स्वय तृप्त हू।
ॐ नमः शुद्धाय, ॐ शुद्ध चिदस्मि।

•••○○•••

❊ आत्म-रमण ❊

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हू, मैं सहजानन्दस्वरूपी हू ॥ टेक ॥

हूं ज्ञानमात्र परभावशून्य, हू सहज ज्ञानघन स्वय पूर्ण।
हू सत्य सहज आनदधाम, मैं सहजानद०, मै दर्शन० ॥१॥

हू खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमे मेरा कुछ काम नही।
परका न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं सहजानद०, मैं दर्शन० ॥२॥

आऊ उतरू रम लू निजमे, निजकी निजमे दुविधा ही क्या।
निज अनुभव रससे सहज तृप्त, मैं सहजानंद०, मैं दर्शन० ॥३॥

•••○○•••

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्त-न्याय-साहित्यशास्त्री
पूज्य श्रीमत्सहजानन्द महाराज
द्वारा विरचितम्

सहजपरमात्मतत्त्वाष्टकम्

।। शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।

यस्मिन् सुधाम्नि निरता गतभेदभावा, प्राप्स्यन्ति चापुरचल सहज सुशर्म ।
एकस्वरूपममल परिणाममूल, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।१।।

शुद्ध चिदस्मि जपतो निजमूलमत्र, ॐ मूर्ति मूर्तिरहित स्पृशतः स्वतत्रम् ।
यत्र प्रयान्ति विलय विपदो विकल्पा, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।२।।

भिन्न समस्तपरतः परभावतश्च, पूर्ण सनातनमनन्तमखण्डमेकम् ।
निक्षेपमाननयसर्वविकल्पदूर, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।३।।

ज्योति पर स्वरमकर्तृ न भोक्तृ गुप्त, ज्ञानिस्ववेद्यमकल स्वरसाप्तसत्त्वम् ।
चिन्मात्रधाम नियत सततप्रकाश, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।४।।

अद्वैतब्रह्मसमयेश्वरविष्णुवाच्य, चित्पारिणामिकपरात्परजल्पमेयम् ।
यद्दृष्टिसश्रयणजामलवृत्तितान, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।५।।

आभात्यखण्डमपि खण्डमनेकमश, भूतार्थबोधविमुखव्यवहारदृष्ट्याम् ।
आनदशक्तिदृशिबोधचरित्रपिण्ड, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।६।।

शुद्धान्तरङ्गसुविलासविकासभूमि, नित्य निरावरणमञ्जनमुक्तमीरम् ।
निष्पीतविश्वनिजपर्ययशक्ति तेजः, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।७।।

ध्यायन्ति योगकुशला निगदन्ति यद्धि, यद्ध्यानमुत्तमतया गदित. समाधि ।
यद्दर्शनात्प्रवहति प्रभुमोक्षमार्ग, शुद्ध चिदस्मि सहज परमात्मतत्त्वम् ।।८।।

सहजपरमात्मतत्त्व स्वस्मिन्ननुभवति निर्विकल्प य ।
सहजानन्दसुवन्द्य स्वभावमनुपर्ययं याति ।।९।।

हर्षपूर्ण विज्ञप्ति

आध्यात्मिक संत न्यायाचार्य पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णीके पट्टशिष्य अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराजने १९४२ ई० से समाजमे उपदेश, अध्यापन, चर्चा, शिक्षासस्थान-स्थापन आदि द्वारा जो समाजका उपकार किया है, उससे समाज सुपरिचित है। इसी बीच अपने अनेक आध्यात्मिक, दार्शनिक व धार्मिक विज्ञान सम्बन्धित ग्रन्थोका सरल रीतिसे निर्माण किया है तथा विशिष्ट ग्रन्थोपर आपके जो प्रवचन होते रहे हैं, उनको नोट कराया जाता रहा था, सो उनका भी सकलन हुआ है। कठिनसे कठिन ग्रन्थोपर जो सरल रीतिसे प्रवचन हुए हैं, उनको पढकर कल्याणका मार्गदर्शन व सत्य आनन्द प्राप्त हो जाता है। इसी कारण समाजने साहित्य-सस्थायें स्थापित की और उन सस्थाओ द्वारा महाराजश्री के ५४५ ग्रन्थोमे से करीब ३०० ग्रन्थ प्रकाशित हो गये।

अब समाजने ज्ञानप्रभावनाके लिये भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्यमन्दिरकी स्थापना की है, जिसका उद्देश्य स्वाध्यायार्थी बन्धुवो, मन्दिर एव लाइब्रेरियोंके लिये उक्त साहित्यको पौनी लागतसे भी कममे वितरित कराके ज्ञानप्रसार करना है। यदि किसी वर्ष शास्त्रदानमे अधिक रकम प्राप्त हो जाती है तो यह उक्त साहित्य तिहाई, चौथाई लागत तकमे भी वितरित किया जाता है। हमारी कामना है कि आत्महितैषी बधु इस साहित्यका अवश्य अध्ययन करके इस दुर्लभ मानवजीवनमे वास्तविक मायनेमे जीवनकी सफलता प्राप्त करें, जिससे कि सदाके लिये जन्म-मरणका संकट छूटे और सहज ज्ञान एवं सहज आनदका निर्बाध पूर्ण अनत लाभ बना रहे। जो ग्रन्थ अभी छपे नही हैं उनकी प्रकाशन-व्यवस्था चालू है। श्री सहजानद साहित्य अभिनन्दन समिति २१/२७ शक्तिनगर दिल्ली, श्री भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिर व सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ, इनमे से किसीके भी सदस्य ५००) से लेकर ५०००) तक शुल्क वाले आजीवन सदस्य होते है। इन सदस्योको 'वर्णी प्रवचन प्रकाशिनी संस्था' मुजफ्फरनगरसे प्रकाशित मासिक पत्र 'वर्णी प्रवचन' भी भेंटस्वरूप प्रति माह भेजा जाता है। उक्त तीन सस्थावोमे किसीके भी कमसे कम ५००) शुल्क वाला आजीवन सदस्य बनने वालेको अब तकके प्रकाशित उपलब्ध ग्रथ भेंटमे दिये जाते है तथा भविष्यमे प्रकाशित सभी ग्रन्थ भेंटमे दिये जायेंगे। इस ही कोषसे ग्रन्थ प्रकाशित होते रहते हैं।

खेमचन्द जैन
मन्त्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)